नक्शों में दसकरण

दस करण - चर्चा

कर्म की दस अवस्थाएँ

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

नक्शों में दस करण

लेखक

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

जयपुर

सम्पादक

डॉ. संजीवकुमार गोधा

एम.ए. द्वय, नेट, एम.फिल.,पीएच.डी.

जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

फैक्स : 2704127, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

नक्शों में दस करण : ब्र. यशपाल जैन
प्रथम संस्करण : 1 हजार
(26 जनवरी 2013)
द्वितीय संस्करण : 1 हजार
संशोधित/संवर्धित संस्करण : 2 हजार
श्रुतपंचमी
(दि. 22 मई, 2015)

मूल्य :
10 रुपये

प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करने हेतु श्री दिलीपभाई शाह, अहिंसा चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा पाँच हजार की धनराशि प्राप्त हुई। धन्यवाद।

टाइपसैटिंग
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-4, बापूनगर
जयपुर

मुद्रक :
सन् एन सन् प्रेस
तिलकनगर,
जयपुर

प्रकाशकीय

ब्र. यशपालजी द्वारा लिखित एवं डॉ. संजीवकुमार गोधा द्वारा संपादित **'नक्शों में दस करण'** का नवीनतम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। कर्म की दस अवस्थाओं को नक्शों के द्वारा ज्ञान कराने का यह प्रयास नया ही प्रयोग है। यह प्रयोग सफल ही होगा; ऐसा हमें विश्वास है।

ट्रस्ट की ओर से प्रतिवर्ष जयपुर में आयोजित होनेवाले दस दिवसीय आध्यात्मिक शिक्षण-शिविर के अवसर पर करणानुयोग संबंधी प्रारम्भिक ज्ञान कराने हेतु गोम्मटसार के गुणस्थान प्रकरण की कक्षा ब्र. यशपालजी जैन द्वारा ली जाती है। उस समय कक्षा में बैठनेवाले भाइयों को इस विषय को समझने में जो बाधाएँ आती हैं, वे मुख्यत: करणानुयोग की पारिभाषिक शब्दावली से संबंधित होती हैं।

श्री टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय के शास्त्री प्रथम वर्ष के अभ्यासक्रम में गुणस्थान-विवेचन की पुस्तक पढ़ायी जाती है। पढ़ाने का कार्य प्रारंभ से ही ब्र. यशपालजी ही करते आ रहे हैं। अब इस कृति से विद्यार्थियों को कर्म की दस अवस्थाओं को समझना और समझाना दोनों सुलभ हो जायेंगे। अनेक स्थान पर मुमुक्षु मण्डल की शास्त्र सभा में भी गुणस्थान पढ़ाया जाता है। वहाँ भी कर्म की दस अवस्थाओं को समझाना सहज होगा; ऐसा हमें विश्वास है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का यथार्थ ज्ञान करने कराने के लिए इन दस करणों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। दस करण पुस्तक से इस कमी की पूर्ति हो रही है; इसका हमें हार्दिक आनन्द है।

प्रयोजनभूत सात तत्त्वों के ज्ञान करते समय बंध करण एवं बंध तत्त्व का ज्ञान करने के लिए भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

ब्र. यशपालजी एवं डॉ. संजीव गोधा दोनों ही चारों अनुयोगों के संतुलित अध्येता एवं वैराग्य-रस से भीगे हृदयवाले आत्मार्थी विद्वान् हैं। टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से संचालित होने वाली प्रत्येक गतिविधि में इनका सक्रिय योगदान रहता है। ट्रस्ट के अनुरोध से ये बारम्बार प्रवचनार्थ भी अनेक स्थानों पर जाते रहते हैं।

ब्र. यशपालजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड की टोडरमलजी रचित (सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका) टीका का सम्पादन का कार्य अत्यन्त श्रम एवं एकाग्रतापूर्वक किया है तथा इस संपादन कार्य से प्राप्त अनुभव का भरपूर उपयोग करते हुए प्रस्तुत कृति तैयार की है; अत: ट्रस्ट आपका हार्दिक आभारी है।

नक्शों को कम्प्यूटर पर तैयार करने का कष्टसाध्य कार्य श्री कैलाशचन्दजी शर्मा ने किया है। अतः उन्हें और दानदातारों को भी संस्था धन्यवाद देती है।

इस पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, अत: वे बधाई के पात्र हैं। यह पुस्तक आप सभी आत्मार्थियों को कल्याणकारी हो इसी भावना के साथ।

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
महामंत्री – पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
* मनोगत	5
* सम्पादकीय	8
* नक्शों में दसकरण	10
* मंगलाचरण	11
* विषय प्रवेश	12
1. बंध	20
* बंध के अनेक भेद	23
* बंध हेतु उदाहरण	26
2. सत्त्व (सत्ता)	28
3-4. उदय-उदीरणा	30
* उदय हेतु उदाहरण	32
* आबाधाकाल	34
5. उत्कर्षण	35
6. अपकर्षण	37
* अपकर्षण-अपवर्तन में भेद	38
7. संक्रमण	39
8. उपशांत	40
9. निधत्ति	42
10. निकाचित	45
* करण-ज्ञान से लाभ	48
* कर्मोदय का मर्म	56
* संतों की भावना	60
* करणानुयोग में दोष-कल्पना का निवारण	61
* करणानुयोग का प्रयोजन	62
* करणानुयोग के व्याख्यान का विधान	63
* शास्त्राभ्यास से लाभ	64

मनोगत

मुझे विगत अनेक वर्षों से करणानुयोग सम्बन्धित ''गुणस्थान'' विषय के आधार से कक्षा लेने का सौभाग्य विभिन्न शिक्षण शिविरों के माध्यम से मिल रहा है।

प्रारम्भ में तो मात्र श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा जयपुर में आयोजित शिविर में ही यह कक्षा चला करती थी; लेकिन श्रोताओं की बढ़ती हुई जिज्ञासा एवं माँग को देखते हुए अब प्रत्येक शिविर की यह एक अनिवार्य कक्षा बनी हुई है।

मैं प्रवचनार्थ जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ गुणस्थान प्रकरण को समझाने का आग्रह होने लगता है। श्रोताओं की इसप्रकार की विशेष जिज्ञासा ने मुझे इस विषय की ओर अधिक अध्ययन हेतु प्रेरित किया है।

गुणस्थानों को पढ़ाते समय कर्म की बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि अवस्थाओं को समझाना प्रासंगिक होता है।

कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं, उन्हीं को करण कहते हैं। इन दस करणों को समझाते समय मुझे प्रतीत हुआ कि इस संबंध में स्पष्ट और अधिक ज्ञान करना आवश्यक है।

अनेक विद्वानों से चर्चा करने पर किंचित समाधान भी होता था; फिर भी कुछ अस्पष्टता बनी रहती थी। इसकारण पुनः पुनः इन दस करणों को सूक्ष्मता से समझने का मैं प्रयास करता रहा। उस प्रयास की परिणति यह दस करण की कृति है।

अभी भी मैं कुछ सूक्ष्म विषयों में निर्मलता चाहता हूँ। हो सकता है, यह कृति करणानुयोग के अभ्यासी विद्वानों के अध्ययन का विषय बनेगी तब वे मुझे समझायेंगे तो मुझे लाभ ही होगा। मुझे आशा है विद्वत् वर्ग मुझे अवश्य सहयोग देगा।

१. दस करणों को समझने के प्रयास के काल में मैंने भीण्डर निवासी पण्डित श्री जवाहरलालजी की कृति करणदशक देखी।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड की हिन्दी टीकाएँ, जो अनेक संस्थाओं से एवं भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से संपादित हैं उनको भी देखा।

३. दस करणों को समझने के लोभ से ही दस करणों के संबंध में पुराने विद्वानों ने जो स्वतंत्र लेखन किया है, उसे भी देखा उनमें सुदृष्टितरंगिणी एवं भावदीपिका भी सम्मिलित है।

४. आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि की कृति कर्मविज्ञान से भी लाभ लिया है।

५. ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का कर्मरहस्य, कर्मसिद्धान्त, कर्मसंस्कार आदि का अच्छा लाभ मिला है।

६. पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री बनारसवालों की करणानुयोग प्रवेशिका का भी उपयोग किया है।

करणानुयोग का कर्म विषय ही ऐसा है, जिसे यथार्थरूप से तो सर्वज्ञ भगवान ही जान सकते हैं। इस कारण ही कुछ विषयों को लेकर बड़े-बड़े आचार्यों में भी किंचित् मतभेद पाया जाता है। वे भी क्या कर सकते हैं? जिनको अपनी गुरु परंपरा से जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उन्होंने उसी को स्वीकार किया।

जीवादि सात तत्त्वों में ऐसा मतभेद नहीं होता; क्योंकि सप्त तत्त्व तो प्रयोजनभूत तत्त्व हैं और उनका कथन स्पष्ट है। उनके यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

मेरे जीवन का बहुभाग काल धर्म के अध्ययन और अध्यापन में ही गया है; तथापि अनेक वर्षों तक कर्म बलवान है, इस धारणा ने मुझे अत्यन्त परेशान किया था। ऐसी परेशानी अन्य साधर्मी को न हो; इस

भावना से भी मैंने बुद्धिपूर्वक इस कृति के प्रकाशन में रस लिया है।

एक दृष्टि से धर्मज्ञान के क्षेत्र में जो मैं समझ पाया, उसी का ही चित्रण इस कृति में है, कपोल-कल्पित कुछ नहीं है। मैं धर्मक्षेत्र में कपोल-कल्पित विषय को स्वीकार करना भी नहीं चाहता; क्योंकि वह उचित भी नहीं है। सर्वज्ञ भगवान के उपदेशानुसार जो है, वही मान्य है।

मैं अपना भाव स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा अध्ययन तो विशेष नहीं है फिर भी मैंने मात्र अपने उपयोग को निर्मल रखने के लिए तथा तत्त्वनिर्णय में अनुकूलता बनी रहे, इस धर्मभावना से दस करणों के संबंध में कुछ लिखने का प्रयास किया है। विज्ञ पाठक गलतियों की क्षमा करेंगे और मुझे मार्गदर्शन करेंगे - ऐसी अपेक्षा करता हूँ।

इस कृति को यथार्थ बनाने की भावना से मैंने अनेक लोगों को इसे दिखाया है और उनके सुझावों का लाभ भी उठाया है। उनमें पं. राजमलजी भोपाल, पं. प्रकाशजी छाबड़ा इन्दौर, विदुषी विजया भिसीकर कारंजा, ब्र. सुजाताजी एवं पं. जीवेन्द्रजी जड़े बाहुबली (कुंभोज), ब्र. विमलाबेन जबलपुर, ब्र. कल्पनाबेन सागर, पं. अरुणकुमार जैन अलवर, पं. डॉ. संजीवकुमारजी गोधा जयपुर, पं. श्रेयांसजी बीना एवं पं. रूपचन्दजी बंडा हैं। मैं इन सबका हृदय से आभार मानता हूँ। इनके सहयोग के बिना इस कृति का प्रकाशन संभव नहीं था।

साधर्मी इस कृति से लाभ उठा लेंगे, ऐसी अपेक्षा है। जिनागम के अभ्यासु पाठकगण इस कृति का अवलोकन करके मुझे आगम के आधार से मार्गदर्शन करेंगे ही यह भावना है।

दस करण विषय को विशेष विस्तार के साथ जानने की जिनकी भावना हो, पुस्तक का जरूर अध्ययन करे।

- ब्र. यशपाल जैन

सम्पादकीय

करणानुयोग के विशिष्ट विद्वान् के रूप में ख्याति प्राप्त ब्र. यशपालजी जैन मुमुक्षु समाज में अण्णाजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपके द्वारा कर्मों के दशकरणों के सम्बन्ध में लिखित पुस्तक का प्रथम संस्करण जनवरी, २०१३ में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत कृति को पुनः संशोधित एवं सम्पादित करने हेतु ब्र. यशपालजी ने मुझे निवेदन किया।

वर्ष २०१४ के अन्त में ब्र. यशपालजी के साथ बैठकर प्रतिदिन जय धवला ग्रन्थ के स्वाध्याय का क्रम चल रहा था। अचानक एक दिन सहज ही ब्रह्मचारीजी ने अपनी प्रकाशित कृति 'नक्शों में दशकरण' के पुनरावलोकन एवं संशोधन का प्रस्ताव रखा। तत्पश्चात् उनके निवेदन पर उन्हीं के साथ बैठकर इस कृति में प्रयुक्त विविध विषयों पर विचार-विमर्श करते हुए मैंने इस कृति के संशोधन एवं सम्पादन का कार्य प्रारंभ किया।

सम्पादन के दौरान धवला, कषाय पाहुड-महाबंध, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, भावदीपिका, सुदृष्टितरंगिणी आदि ग्रन्थों को ध्यान में रखकर कृति को प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थानों पर विविध आगम प्रमाणों को मूल प्रतियों से मिलान कर फुटनोट के रूप में प्रस्तुत किया है।

किसी भी विषय को समझने के लिये चित्रात्मक पद्धति बहुत सशक्त माध्यम है। रेखाचित्र आदि के माध्यम से विषय का स्वरूप पाठक के मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। हमने इस कृति में पाठकों को सरलता से समझने के लिए कृति में प्रयुक्त नक्शों में आवश्यक सुधार करके सम्पादन के दौरान उन्हें नये रूप में प्रस्तुत किया है।

इससे पूर्व कर्मों के बंध आदि १० करणों के संबंध में इतनी व्यवस्थित पुस्तक कहीं देखने को मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह कृति अपने विषय की अपने आप में अद्वितीय रचना है। यद्यपि बंध आदि करणों के संदर्भ में शास्त्रों में

यत्र-तत्र बहुत स्थानों पर चर्चायें आई है, किन्तु रेखाचित्रों के प्रयोग ने इसमें नवीनता ला दी है।

ब्र. यशपालजी जिनवाणी को जन-जन के कण्ठ में बसाने के पावन उद्देश्य से विगत ३०-३५ वर्षों से कण्ठपाठ योजना चला रहे हैं। दशकरणों सम्बन्धी विषय को सभी सरलता से कण्ठस्थ कर सकें इसके लिए विषय को नम्बर डालकर, पाइंट बना-बनाकर व्यक्त किया है।

जीव का साक्षात् प्रयोजन तो अध्यात्म से ही सधता है। अध्यात्म रुचिवंत मुमुक्षु समाज में बहुत लोग तो करणानुयोग के विषयों को प्रयोजन शून्य कहते हैं, उन्हें ये विषय अध्यात्म रहित होने से नीरस लगते हैं। अत: स्थान-स्थान पर अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये अध्यात्म के रहस्यों को खोलने का प्रयास किया है।

सम्पादन के दौरान एक दिन अचानक ही ब्र.यशपालजी ने इस कृति के मंगलाचरण के संबंध में भी विचार व्यक्त किया। मुझसे कहा कि "मैं चाहता हूँ, इस कृति में मंगलाचरण भी होना चाहिये, आप लिखोगे तो उत्तम रहेगा, अन्यथा णमोकार मंत्र, मंगलं भगवान वीरो.. या छहढाला ग्रन्थ का मंगलाचरण देंगे।" उसी रात्रि को बैठकर मैंने मंगलाचरण लिख दिया और दूसरे दिन ब्रह्मचारीजी को सुनाया। उन्होंने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की। इसप्रकार कृति के सम्पादन के साथ-साथ मंगलाचरण लिखने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ।

यद्यपि इस सम्पादन कार्य में मेरे द्वारा बहुत सावधानी रखने का प्रयास किया गया है, तथापि क्षयोपशम ज्ञान होने से किसी भी प्रकार की चूक रह जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। हम आशा करते हैं कि विज्ञ पाठक उसे सुधारकर पढ़ेंगे एवं उससे हमें अवगत करायेंगे।

- डॉ. संजीवकुमार गोधा

नक्शों में दस करण

'जीव जागा कर्म भागा' पुस्तक लिखने के समय से एक विषय मुझे बारंबार सताता रहा है कि दस करणों को कक्षा में बोर्ड व नक्शों के माध्यम से समझाना कैसे बनेगा? अनेकों से पूछा भी; तथापि कुछ समाधानकारक उत्तर नहीं मिला। मैंने स्वयं ही अनेक प्रकार के नक्शे बनाने का प्रयास किया। अनेक लोगों को बताया/दिखाया।

मुझे नक्शों के द्वारा समझाने का परिणाम तीव्र होता रहा। एक बार दसों करणों के सामान्य नक्शे बनाये भी; तथापि वे सब नक्शे खो गये। एक बार मन में ऐसा भी विचार आया कि छोड़ दो इस नक्शे के विषय को।

क्या बताऊँ मैं अपने परिणामों को? जैसे-जैसे नक्शे को बनाने के विषय को छोड़ने का निर्णय करता गया, वैसे-वैसे **वह विषय मेरे मन में और गहराई से बैठ गया। रात्रि में नींद टूटने के बाद भी नक्शा तो बनाना ही चाहिए - यही विषय ऊर्ध्व होता रहा।**

फिर नक्शा बनाने का मानस बनाया। इसी क्रम में मुझे कारंजा (महा.) से मराठी में प्रकाशित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मिली; जिसका संपादन विदुषी श्रीमती विजया अजितकुमारजी भिसीकर ने किया है। उसमें उदय-उदीरणा, उपशम, उत्कर्षण के कुछ नक्शे मिले। इनसे मुझे मार्गदर्शन मिला। उनका आधार लेकर मैंने दसों करणों के नक्शे बना तो दिये हैं; तथापि मेरे मन में यह तीव्र विकल्प था कि कोई साधर्मी इन नक्शों को इससे भी बढ़िया बनायें। मेरे इस विकल्प की पूर्ति के अनुसार इनको सर्वोत्तम बनाने का कार्य डॉ. संजीवजी गोधा द्वारा किया गया है।

बंध और सत्त्व के चित्र श्री गणेश वायकोस, औरंगाबाद ने बनाये है।

पूर्व में प्रकाशित नक्शों में दसकरण संस्करण मात्र ३२ पृष्ठ का था, यह नवीन संस्करण करीब दुगुनी वृद्धि के साथ ६४ पृष्ठ का हो गया है, पूर्व की तुलना में आपको यह संस्करण अत्यधिक नवीनता लिये भासित होगा।

दस करण का विषय पाठकों को कितना समझ में आया अथवा नहीं आया, इसे गौण करते हुए मैं सोचता हूँ तो मुझे हार्दिक समाधान यह है कि मुझे व्यक्तिगत बहुत-बहुत लाभ हुआ है। भविष्य में भी मैं यह आशा रखता हूँ कि यह विषय मुझे और अधिक स्पष्ट हो जावें। **- ब्र. यशपाल जैन**

मंगलाचरण

(वीर छन्द)

पंचप्रभु को वंदन अगणित जो अपने में लीन हुये।
पंच परावर्तन को क्षय कर पंचम गति जगदीश हुये॥
तीन लोक के ज्ञाता-दृष्टा अरिहंतों को कर वंदन।
ध्रुव स्वभाव दर्शावन वाले सिद्ध प्रभु को करूँ नमन॥१॥

प्रभु ने जिसका आश्रय लेकर लोकशिखर पद पाया है।
उसी परमपद प्राप्ति हेतु अब मेरा चित हुलसाया है॥
जिस ज्ञायक पर दृष्टि कर जिन चार घातिया किये शमन।
उस स्वभाव का अवलम्बन ले सब कर्मों का करूँ वमन॥२॥

सर्वज्ञ कथित जिन-आगम में कर्मों का सूक्ष्म विवेचन है।
जीव जुदा है कर्म जुदा है, यह सिद्धान्त अनूपम है॥
पृथक्-पृथक् हो बोध इन्हीं का अरु श्रद्धा जब दृढतम हो।
गुणस्थान आरोहण हो तब, कर्म निर्जरा सत्वर हो॥३॥

वीरसेन अरु नेमीचंद्र आदि आचार्यों के अनुसार।
दस करणों का मर्म जानने का पुरुषार्थ जगा हितकार॥
सत्ता बंध उदय उदीरणा उत्कर्षण अरु अपकर्षण।
सर्व कर्म में हो उपशांत निधत्त निकाचित संक्रमण॥४॥

बंध आदि दस करण कर्म में, मैं उनसे निरपेक्ष सदा।
यह अपूर्व सत् संतों द्वारा प्रतिपादित मम हृदय लहा॥
कर्म हुये बलवान कभी ना, मैं भूला निज बलवत्ता।
निज शक्ति पहिचान आज मैं पृथक् करूँ कर्मों सत्ता॥५॥

– डॉ. संजीवकुमार गोधा

विषय-प्रवेश

'कर्म' इस शब्द से सामान्य जन परिचित तो हैं; तथापि कर्म शब्द का प्रयोग अनेक विषयों का प्रतिपादक है, इस संबंध में कुछ कम ही विचार किया जाता है। इसलिए यहाँ हम कुछ खुलासा कर रहे हैं।

१. यहाँ इस कृति में व्याकरण वाले कर्म से कुछ संबंध नहीं है।

जो मनुष्य सामान्यरूप से पढ़ाई करता है तो वह कम से कम इतना तो जानता ही है कि **एक वाक्य में तीन विभाग होते हैं – एक कर्ता दूसरा कर्म और तीसरी क्रिया। इन तीनों के बिना वाक्य नहीं बनता।** इसतरह व्याकरण शास्त्रानुसार प्रत्येक वाक्य में कर्म होता है, जिसकी द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे राम ने लक्ष्मण को समझाया। इस वाक्य में राम, कर्ता है; लक्ष्मण, कर्म है और समझाया, यह क्रिया है।

२. यहाँ इस कृति में समयसार में समागत कर्म से भी कुछ संबंध नहीं है।[१]

कर्म शब्द का उपयोग ग्रंथाधिराज समयसार शास्त्र में बहुत जगह आता है। समयसार में कर्ता-कर्म अधिकार नाम का एक स्वतंत्र अधिकार भी है। वहाँ तो द्रव्य को कर्ता और द्रव्य का जो परिणमन वह कर्म अथवा गुण को कर्ता और गुण का जो परिवर्तन/परिणमन होता है, उसे कर्म कहते हैं। द्रव्य व्यापक होता है और उसका परिणमन व्याप्य कहलाता है, उस व्याप्य को भी कर्म कहते हैं।

३. गीता में समागत कर्म से भी इस कृति का कुछ संबंध नहीं है।

भगवत् गीता वैदिक सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भगवत् गीता में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम भावना से कर्म/कार्य/कर्तव्य करते रहो, फल की अपेक्षा मत रखो; ऐसा उपदेश दिया है।

---

१. समयसार कलश, नं. ४९

४. खटकर्म में जो कर्म शब्द आता है, उससे भी यहाँ संबंध नहीं है।

एक दूसरे के साथ झगड़ा करने वाला तीव्र कषायी मनुष्य भी कहता है – "मैं तुम्हारे सब खटकर्म (पाप/अनुचित कार्य/निंदित कार्य) जानता हूँ। मुँह खोलूँगा तो पता चलेगा। चुप बैठने में ही तुम्हारी भलाई है।"

५. यहाँ सर्वज्ञ/केवली भगवान के दिव्यध्वनि में अथवा जिनेन्द्र कथित आगम/शास्त्र में जो कर्म शब्द आता है, मात्र उससे ही प्रयोजन है, जिसके ज्ञानावरणादि आठ भेद कहे जाते हैं और कार्मणवर्गणा रूप कर्म की विशिष्ट अवस्था को करण कहते हैं।

कर्म की परिभाषा निम्नानुसार है – **"जीव के मोह, राग, द्वेषादि परिणामों के निमित्त से स्वयं परिणमित कार्मणवर्गणारूप पुद्गल की विशिष्ट (जीव के साथ, एकक्षेत्रावगाही) अवस्था को कर्म कहते हैं।"**

ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमित होने-योग्य वर्गणाओं (पुद्गल स्कन्धों) को कार्मणवर्गणा कहते हैं।

जिनेन्द्र-कथित **ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की बंध, सत्त्व आदि दस अवस्थाएँ होती हैं। उन दस अवस्थाओं को यहाँ जानने का हमारा प्रयोजन है।**

कर्मबन्ध के अस्तित्व संबंधी 'कर्मविज्ञान' ग्रन्थ का अंश बंध को समझने में अनुकूल होने से पाठकों के लाभार्थ यहाँ दिया जा रहा है – **"सजीव – निर्जीव वस्तुओं का परस्पर बन्ध : प्रत्यक्षगोचर –**

संसार में सर्वत्र १. ईंट, सीमेंट आदि पदार्थ-मकान के रूप में बँधे हुए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। २. अनेक कागजों को परस्पर मिलाकर, उन्हें सिलकर और चिपका कर पुस्तक की जिल्द बाँधी जाती है; यह कागजों का **परस्पर बन्ध** भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार ३. एक जमींदार के घर में घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु रस्सी के द्वारा खूँटों से बँधे हुए नजर आते हैं। ४. आटा, पानी आदि मिल कर गूँथने से एक

पिण्ड बँध जाता है और उसकी रोटी बनती हुई हम देखते हैं। **इसी प्रकार संसार में अगणित चीजें बँधी हुई प्रत्यक्ष मालूम होती हैं।**

५. यही नहीं, अध्यापक, अध्यापन-कार्य से; वकील, वकालत के पेशे से; व्यापारी अपने मनोनीत पदार्थ के व्यापार से; किसान, कृषि से और चिकित्सक, चिकित्सा-**कार्य से बँधे** होते हैं। ६. माँ, अपनी संतान के पालन-पोषण के लिए बँधी होती है। इसी प्रकार कई लोग अमुक-अमुक सजीव (परिवार, समाज आदि के सदस्यों) तथा निर्जीव (धन, सम्पत्ति, मकान, दुकान, कार, बंगला आदि) पदार्थों के प्रति **ममत्ववश बँधे** होते हैं। ७. अधिकांश लोग अमुक-अमुक क्षेत्र (ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि) के प्रति मोहवश बँधे रहते हैं।

८. कई लोग अमुक **काल से बँधे** होते हैं। दफ्तर, दुकान, सर्विस आदि पर पहुँचने के लिए वे समय से बँधे होते हैं।

९. इसी प्रकार कई वस्तुएं भी **समय से बँधी** होती हैं; जैसे - रेलगाड़ी, बस, विमान, रेडियो-प्रसारण, टाईमबम आदि।

१०. संसार में विवाहित स्त्री-पुरुष **प्रणयभाव** से, ११. माता-पुत्र **वात्सल्यभाव** से, १२. गुरु-शिष्य **उपकार्य-उपकारक भाव** से तथा १३. नौकर-मालिक, **स्वामी-सेवक भाव** से बँधे हुए होते हैं।

इस प्रकार **विभिन्न कोटि के व्यक्ति परस्पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से परस्पर सम्बद्ध और प्रतिबद्ध देखे जाते हैं।**

आत्मा के साथ कर्मों के बन्ध के विषय में शंकाशील मानव -

ये सब वस्तुएँ एक दूसरे के साथ बन्धन के रूप में प्रत्यक्ष बद्ध दिखाई देती हैं; किन्तु **जीव (आत्मा) के साथ कर्मबन्ध, चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता;** इस कारण कतिपय नास्तिक, अविश्वासी, अश्रद्धालु तथा संशयशील मस्तिष्क वाले व्यक्ति कर्मबन्ध का अस्तित्व नहीं मानते। उनका कहना है - मिट्टी और पानी के सम्बन्ध से घट,

तन्तुओं के परस्पर सम्बन्ध से पट आदि की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध या बन्ध प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। **फिर अमूर्त आत्मा (जीव) का मूर्त जड़ कर्मों से बन्ध कैसे हो सकता है?** इन और ऐसे ही कुतर्कों के आधार पर वे लोग कर्मबन्ध का अस्तित्व मानने से इन्कार करते हैं।

संकटापन्न स्थिति में उनके द्वारा कर्मबन्ध का स्वीकार –

किन्तु वे ही महाशय अथवा पापकर्मी, स्वच्छन्दाचारी, नास्तिक, जब चारों ओर से किसी अपरिहार्य संकट, असह्य कष्ट, दुःसाध्य व्याधि अथवा किसी विपत्ति से घिर ही जाते हैं अथवा किसी स्वजन के वियोग से संतप्त होते हैं या पापकर्मग्रस्त व्यक्ति स्वयं कदाचित् मरणासन्न स्थिति में होते हैं। चारों ओर से हाथ-पैर मारने अथवा अनेक उपाय करने पर तथा पैसा पानी की तरह बहा देने पर भी जब उक्त संकट, कष्ट, रोग, संताप, विपत्ति एवं स्थिति आदि का निवारण नहीं होता, प्रश्न उलझता ही जाता है, तब वे ही लोग कर्मबन्ध के अस्तित्व को एक या दूसरे प्रकार से स्वीकार करते देखे गए हैं।"[१]

अनादिकाल से आज तक अनन्त जीव सर्वज्ञ हो चुके हैं। **उन सभी सर्वज्ञ भगवन्तों ने अपने दिव्यज्ञान से वस्तुस्वरूप को जाना है, तथा भूतकाल में हुये अनन्त तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि में अनंत जीवों के कल्याण के लिए जिस तत्त्व का कथन किया है तथा करते रहते हैं उसका नाम जिनधर्म/जैनधर्म है।**

जिनधर्म के प्रमुख वक्ता सर्वज्ञ भगवान ही होते हैं; इसलिए जिनवाणी (ग्रन्थ) के मूल ग्रन्थकर्ता सर्वज्ञ ही कहलाते हैं - "अस्य मूल ग्रन्थकर्तारः सर्वज्ञदेवाः" - इसप्रकार शास्त्र-प्रवचन के प्रारंभ में कहते हैं; इसलिए जिनधर्म में असत्य कथन तो हो ही नहीं सकता। जिनेन्द्र भगवान के सच्चे अनुयायी को इस तरह की यथार्थ एवं दृढ़ श्रद्धा होती है।

'सर्वज्ञ भगवान तो जिनधर्म का मूल है।' सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में तो चारों अनुयोगों का कथन रहता है।

---

१. कर्मविज्ञान भाग-४, पृष्ठ-३-४

प्रथमानुयोग में मोक्षमार्गी अथवा मुक्तिप्राप्त महापुरुषों का पवित्र जीवन-चरित्र होता है; जिससे पात्र जीवों को अपना जीवन आदर्श बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है। उसमें जीव का चरित्र प्रत्यक्ष होने के कारण इस अनुयोग का कथन सामान्यरूप से स्थूल रहता है। इस अनुयोग के अध्ययन से मनुष्य को अपने जीवन को पुण्यमय बनाने के लिए प्रेरणा मिलती है।

चरणानुयोग में मुख्यरूप से बाह्य आचरण की प्रधानता होने से खान-पान की, सदाचार की, पुण्यमय परिणामों की अधिकता रहती है; इसलिए चरणानुयोग के कथन में भी स्थूलता होती है। चरणानुयोग के अभ्यास से मनुष्य का जीवन सदाचारमय बनता है।

द्रव्यानुयोग में ९ पदार्थ, ७ तत्त्व, ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय तथा द्रव्य, गुण, पर्याय का बुद्धिगम्य कथन होता है। इसी अनुयोग में प्रत्येक जीव को निश्चयनय की अपेक्षा से, स्वभाव से भगवान कहा जाता है। सभी पात्र जीवों को वस्तु-स्वरूप का विषय समझ में आ जाय, जीवन में मोक्षमार्ग प्रगट हो, इस उद्देश्य से द्रव्यानुयोग में उपदेश रहता है; अतः कथन में स्थूलपना रहता है। इस अनुयोग का कथन उपादेय होते हुए भी स्थूल है।

अब रहा करणानुयोग का विषय। इस अनुयोग में असंख्यात द्वीप, असंख्यात समुद्र, अकृत्रिम जिनबिंब, जिन चैत्यालय, अलौकिक गणित, कर्म आदि दूरस्थ तथा सूक्ष्म विषयों का कथन होता है। इस अनुयोग में उपर्युक्त विषयों का ज्ञान तो किया जाता है; तथापि **सर्वत्र बुद्धिपूर्वक परीक्षा करना सम्भव नहीं है।**

आगम-गर्भित युक्तियों से परीक्षा (सत्यासत्य का निर्णय) करना अलग विषय है और बुद्धिगम्य विषयों के माध्यम से परीक्षा करना अलग बात है।

हमें यहाँ इस कृति में सर्वज्ञ-कथित सूक्ष्म विषय 'कर्म' के संबंध में ही जानने का प्रयास करना है। कर्म के विषय कभी भी जीव न स्पर्शन इन्द्रिय से छू सके; न रसनेन्द्रिय से कर्म को चख सके हैं, न घ्राणेन्द्रिय से उसकी गंध सूँघ सके हैं, न आँखों से देख सके हैं और कर्मों का कानों से सुनना भी नहीं बना है; क्योंकि कोई भी कर्म, इन्द्रियगम्य नहीं है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि हम उसे जान ही नहीं सकते।

कर्मविषयक ज्ञान सिर्फ आगम प्रमाण से ही हो सकता है। सर्वज्ञ भगवान का उपदेश आज भी हमारे पास शास्त्रों के माध्यम से सुरक्षित है। उन शास्त्रों को पढ़कर हम कर्मों को जान सकते हैं। इन कर्मों का कथन मात्र कुछ ही शास्त्रों में आता है, ऐसा भी नहीं है।

प्रथमानुयोगादि चारों अनुयोगों में कर्म का कथन नियम से आता ही रहता है। जैसे हरिवंश पुराण के प्रारंभ में लगभग १०० पेजों में यही विषय है। **करणानुयोग में कर्म के कथन की ही मुख्यता रहती है।**

वैसे आचार्य वीरसेन ने कर्मों के कथन को द्रव्यानुयोग/अध्यात्म[१] का कथन भी कहा है। अस्तु। हमें तो यहाँ कर्मों की बंध आदि दस अवस्थाओं पर चर्चा करना है।

कर्म की अवस्था को करण कहते हैं।

कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं - १. बंध, २. सत्त्व (सत्ता), ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उत्कर्षण, ६. अपकर्षण, ७. संक्रमण, ८. उपशांत, ९. निधत्ति, १०. निकाचित।

इन दसों का क्रम भी वैज्ञानिक है; क्योंकि १. यदि जीव को कर्म का **बन्ध नहीं होगा तो जीव की देखने में आनेवाली विविध अवस्थाएँ नहीं होंगी** और दुःखरूप संसार अवस्था का भी अभाव ही हो जायेगा।

२. यदि कर्म का **बंध ही न हो तो उनका सत्त्व (सत्ता/अस्तित्व) कहाँ से होगा?**

१. धवला पुस्तक-१३, मूल ग्रन्थ पृष्ठ-३६

३. यदि कर्मों की **सत्ता ही न हो तो उदय कहाँ से और कैसे होगा?**

४. यदि कर्म का उदय ही न हो तो उदीरणा कैसे होगी? कर्मशास्त्र का यह सामान्य नियम है कि **जिस कर्म का उदय रहता है, उस कर्म की ही उदीरणा हो सकती है।**

५. जिस कर्म का बंध हुआ हो, उसमें ही **स्थिति-अनुभाग बढ़नेरूप कार्य होगा अर्थात् उत्कर्षण होगा।**

६. जिस कर्म का बंध हुआ हो, उसमें ही **स्थिति-अनुभाग का घटनेरूप कार्य** अर्थात् अपकर्षण होगा।

७. कर्म का पहले से ही जीव के साथ **बंध हुआ हो तो ही कर्म में संक्रमण अर्थात् परिवर्तन/बदलनेरूप कार्य होगा।**

८. कर्मबंध हुआ हो तो ही उसमें **उदय-उदीरणा के न होनेरूप उपशांत करण का कार्य होगा।**

९. यदि कर्म का बंध हुआ हो तो ही **संक्रमण और उदीरणा न होनेरूप निधत्ति का कार्य होगा।**

१०. यदि कर्म का बंध हुआ हो तो ही **संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षणरूप कार्य न होनेरूप निकाचित कर्म बनेगा।**

संक्षेप में इतना ही हमें समझना है - कर्म की बंध अवस्था इन सब करणों का मूल है; अतः उसे सहज ही प्रथम क्रमांक मिला है।

आचार्यों ने बंध करण का जो स्वरूप शास्त्र में लिखा है उसे क्रम से जानने का हम यहाँ प्रयास करते हैं।

अब बंध करण आदि दस करणों को शास्त्र के आधार से एवं आगमगर्भित तर्क एवं युक्ति से समझाने का प्रयास करते हैं।

करण शब्द के अर्थ :-

१. करण शब्द का अर्थ **गणित** किया जाता है।

२. करण शब्द का प्रसिद्ध अर्थ **इंद्रिय** है।

३. समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में श्री अमृतचंद्राचार्य ने 47 शक्तियों के अन्तर्गत 43वीं **करण** नामक एक शक्ति भी बताई है।

४. जीव के परिणामों को भी करण कहते हैं। जैसे - अधःकरण आदि।

५. षट्कारक में करण नाम का एक कारक होता है। करण कारक साधन के अर्थ में होता है।

६. करण शब्द यहाँ अर्थात् इस दस करण के प्रकरण में कर्म प्रकृति की विशिष्ट अवस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है।

प्राचीनकाल में हुए आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनके नाम षट्खंडागम, कषायपाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार, पंचसंग्रह आदि मूल ग्रन्थ तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवला, जयधवला, महाधवला आदि टीका ग्रन्थ हैं। इनमें बंधकरण आदि का विस्तृत विवेचन है। वह विवेचन संस्कृत-प्राकृत भाषा में ही होने से सामान्य पाठकों को उनसे कुछ लाभ नहीं हो पाता।

इस कारण उन ग्रन्थों के ही विषय का हिन्दी भाषा में अनुवाद विद्वानों ने बड़े परिश्रम के साथ किया है; इसलिए **हम उन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद को ही आवश्यक/योग्य स्थान पर पाठकों को लाभ हो, इस भावना से संक्षेप में देना चाहते हैं।** पाठक उसका लाभ अवश्य लेंगे, ऐसी आशा है।

अब प्रथमतः बंधकरणादि को नक्शों के द्वारा समझने का प्रयास करते हैं -

१ बंध

१. **कर्म की विशिष्ट अवस्था को करण कहते हैं।**

२. कर्म की १० अवस्थाओं में **बंधकरण** प्रथम अवस्था है।

३. संसारी जीव को कर्म का बंध अनादि से है।

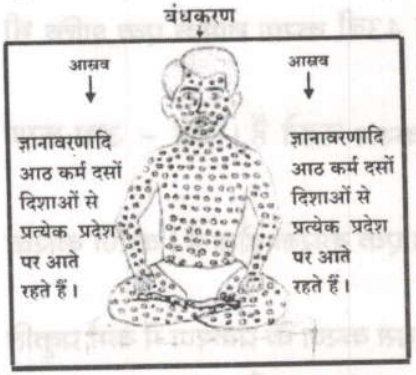

•चित्र में आस्रवपूर्वक कर्म का बंध दिखाया है।

•मनुष्य के शरीर पर जो गोले दिखाये हैं, उन्हें कर्म-स्कन्ध समझना है।

४. संसारी जीव, प्रति समय अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं को बाँधता है।

५. जीव के मोह-राग-द्वेषरूप विकारी परिणामों के निमित्त से पुद्गलस्कन्ध की स्वयं परिणमित कार्मणवर्गणारूप विशिष्ट अवस्था को **कर्म** कहते हैं। कर्म के ज्ञानावरणादि आठ भेद हैं।

६. जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त होनेपर कर्मों का आत्मप्रदेशों के साथ होनेवाले विशिष्ट (परस्पर एकक्षेत्र अवगाहरूप) संबंध को **बंध** कहते हैं।

७. मोही जीव को ही कर्म का सतत बंध होता है।

८. कर्मबंध के काल में भी आत्मा स्वरूप से अबंध /मुक्त स्वभावी ही है।

९. आठों कर्मों में वेदनीय कर्म को सबसे अधिक कर्म-परमाणु मिलते हैं।

१०. दर्शनमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

११. आयुकर्म का बंध अप्रमत्तविरत नामक ७वें गुणस्थान तक ही होता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं।

१२. **अभेद विवक्षा में बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० होती हैं।**[1]

१३. सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्प्रकृति नामक कर्म का बंध नहीं होता।

१४. अयोगकेवली को किसी भी कर्म का नवीन बंध नहीं होता।

१५. तिर्यंच जीव को तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता।

१६. कर्म का बंध होते ही वह कर्म, तत्काल फल नहीं दे सकता। **आबाधाकाल बीतने के बाद ही कर्म, फल देता है।**

१७. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय परिणामों को **मोह** कहते हैं।

१८. मात्र योग से केवल ईर्यापथास्रव होता है, जो एक समय का रहता है।

१९. कर्मबंध के चार भेद हैं –

१. प्रकृतिबंध २. प्रदेशबंध

३. स्थितिबंध ४. अनुभागबंध।

२०. प्रकृतिबंध आदि चारों प्रकार का बंध एकसाथ होता है।

२१. कर्म के स्वभाव को **प्रकृतिबंध** कहते हैं।

२२. कर्मरूप परिणमित पुद्गल परमाणुओं की संख्या को **प्रदेशबंध** कहते हैं।

२३. आत्मा के साथ रहने की कर्म की काल-मर्यादा को **स्थितिबंध** कहते हैं।

२४. कर्म की हीनाधिक फलदान शक्ति को **अनुभागबंध** कहते हैं।

२५. **योग के निमित से** प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं।

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-३७

२६. **मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय** के भावों का निमित्त होने पर स्थितिबंध और अनुभागबंध होते हैं। इस समय प्रकृति, प्रदेश बंध तो होता ही है।

२७. बंधावस्था में सत्ता में स्थित कर्म, जीव को फल नहीं देता।

२८. अनुभाग बंध आदि उदय-काल में फल देने का काम करते हैं।

२९. विपरीत मान्यता को **मिथ्यात्व** कहते हैं।

३०. हिंसादि पापों और इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति को **अविरति** कहते हैं।

३१. आत्मकल्याणक-कार्य में असावधानी प्रमाद है।

३२. क्रोधादि दुःखद विकारी परिणामों/भावों को **कषाय** कहते हैं।

३३. आत्मप्रदेशों की चंचलता को **योग** कहते हैं।

३४. प्रायोग्यलब्धि से नये बंधनेवाले सभी कर्मों की स्थिति अन्तः कोडाकोडी सागर के अंदर की बँधती है, इससे अधिक नहीं। और पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति भी घटकर अंतः कोड़ाकोडी सागरोपम-प्रमाण रह जाती है।

अघातिकर्मों के उदय से बाह्य सामग्री मिलती है, उसमें शरीरादिक तो जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही होकर एक बंधानरूप होते हैं और धन, कुटुम्बादिक आत्मा से भिन्नरूप हैं इसलिये वे सब बन्ध के कारण नहीं हैं; क्योंकि परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं होता। उनमें आत्मा को ममत्वादिरूप मिथ्यात्वादिभाव होते हैं वही बन्ध का कारण जानना।

– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२७

बंध के अनेक भेद

*बंध के प्रकृति बंध आदि चार भेद तो बहुत प्रसिद्ध है; किन्तु काल की सापेक्षता से इनके अनेक भेद मिलते हैं। इसकी चर्चा ई. सं. १९४७ में प्रकाशित धवला पुस्तक ८ के **विषय-परिचय** विभाग में की गई है। उसका अंश उपयोगी जानकर उसे यहाँ दिया जा रहा है –*

१) "**सान्तरबन्धी** – एक समय बँधकर द्वितीय समय में जिनका बन्ध विश्रान्त हो जाता है; वे **सान्तरबन्धी प्रकृतियाँ** हैं; वे ३४ हैं –

असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, नरकगति, एकेन्द्रियादि ४ जाति, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़ शेष ५ संस्थान, वज्रर्षभनाराच-संहनन को छोड़ शेष ५ संहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशस्कीर्ति।

२) **ध्रुवबन्ध** – अभव्य जीवों के जो कर्म की ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का निरंतर बन्ध होता है, वह अनादि-अनन्त होने से **ध्रुवबन्ध** कहलाता है।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ ४७ हैं – ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस व कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अन्तराय।

३) **निरन्तरबन्धी** – जो प्रकृतियाँ जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर रूप से बँधती हैं, वे **निरन्तरबन्धी** हैं। वे ५४ हैं – **ध्रुवबन्धी** ४७, आयु ४, तीर्थंकर, आहारकशरीर और आहारकशरीरांगोपांग।

४) **सान्तर-निरन्तरबन्धी** – जो जघन्य से एक समय और उत्कर्षतः एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त के आगे भी बँधती रहती हैं; वे **सान्तर-निरन्तरबन्धी प्रकृतियाँ** हैं। वे ३२ हैं –

सातावेदनीय, पुरुषवेद, हास्य, रति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, समचतुरस्र-

संस्थान, औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराच-संहनन, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, नीचगोत्र और उच्चगोत्र।

५) **सादिबन्ध** – विवक्षित प्रकृति के बन्ध का एक बार व्युच्छेद हो जाने पर जो उपशमश्रेणी से भ्रष्ट हुए जीव के पुनः उसका बन्ध प्रारंभ हो जाता है, वह **सादि बन्ध** है। **जैसे** – उपशान्तकषाय (ग्यारहवें गुणस्थान) से भ्रष्ट होकर सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें गुणस्थान) को प्राप्त हुए जीव के ५ प्रकार के ज्ञानावरण का बन्ध।

६) **अनादिबन्ध** – विवक्षित कर्म के बन्ध के व्युच्छित्तिस्थान को नहीं प्राप्त हुए जीव के जो उसका बन्ध होता है वह **अनादि बन्ध** कहा जाता है। **जैसे** – अपने बन्धव्युच्छित्तिस्थान रूप सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय से नीचे सर्वत्र ५ ज्ञानावरण का बन्ध।

७) **अध्रुवबन्ध** – भव्य जीवों के जो कर्मबन्ध होता है, वह विनश्वर होने से अध्रुवबन्ध है।

८) **अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ** – ध्रुवबन्धी प्रकृतियों से शेष ७३ प्रकृतियाँ, अध्रुवबन्धी है।

इनमें ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकार तथा शेष प्रकृतियों का सादि व अध्रुवबन्ध ही होता है।''

वहाँ सबसे पहले पूरे प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए; क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। **–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक–२१**

बन्ध में अबन्ध की अनुभूति

बन्धन तभी तक बन्धन है - जब तक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है, तथापि आत्मा तो अबन्ध-स्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंध स्वभावी आत्मा को भूलकर बंधन पर केन्द्रित हो रहा है।

वस्तुतः बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बँधा हूँ' इस विकल्प से यह जीव बँधा है। लौकिक बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं।

बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है - पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ?

प्रश्न - बंधन के रहते हुए बंधन की अस्वीकृति और अबंध की स्वीकृति कैसे संभव है? बंधन है, उसे तो न माने और 'अबंध' नहीं है, उसे स्वीकारे, यह कैसे सम्भव है?

उत्तर - सम्भव है। स्वीकारना तो सम्भव है ही, द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो वस्तु भी ऐसी ही है। बंधन तो ऊपर (पर्याय में) ही है, अन्तर में तो पूरी वस्तु स्वभाव से अबंध ही पड़ी है। उसे तो किसी ने छुआ ही नहीं, वह तो किसी से बँधी ही नहीं।

स्वभाव में बंधन नहीं - इसे स्वीकार करने भर की देर है कि पर्याय के बंधन भी टूटने लगते हैं। स्वतंत्रता की प्रबलतम अनुभूति बंधन के काल में संभव है; क्योंकि अन्तर में स्वतंत्र तत्त्व विद्यमान है, पर्याय के बंधन कटने में भी वही समर्थ कारण है।

- तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-५७, ५८

बंध हेतु उदाहरण

१. एक समय में अनन्त कर्म-परमाणु बंध रहे हैं - उनका विभाजन ३० समयों में (३० कोडाकोडीसागरोपम के प्रत्येक समय में) करके दिखाया है।[१]

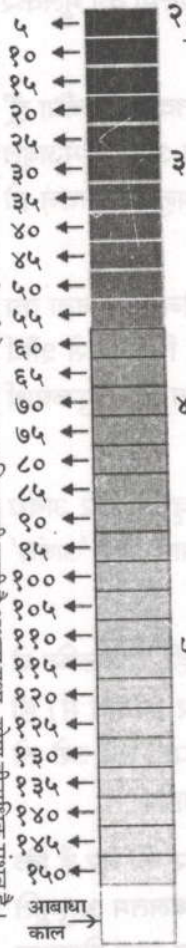

२. यह एक स्थान १ कोडाकोडी सागरोपम का माना गया है; ऐसे तीस स्थान है अर्थात् ज्ञानावरण की ३० कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति बताई गयी है।

३. हालांकि बंध के प्रथम समय में यहाँ उदाहरण के तौर पर १५० परमाणुओं का बंध बताया गया है और अन्तिम समय में ५ परमाणुओं का बंध बताया गया है; परन्तु सत्य तो यह है कि प्रत्येक समय में अनन्त-अनन्त कर्म परमाणु बंधते हैं।

४. प्रथम समय में कर्मपरमाणु अधिक है और अनुभाग (फलदान शक्ति) कम रहता है, अन्तिम समय में कर्मपरमाणु कम और फलदान शक्ति अधिक रहती है। यह स्वाभाविक व्यवस्था है। अथवा फलदान-शक्ति हीनाधिक भी संभव है।

५. **जैसे प्रदेशबंध समानरूप से प्रतिसमय घटता जाता है वैसे स्थितिबंध और अनुभागबंध समानरूप से प्रतिसमय बढ़ता जाता है अर्थात् पहले समय में कम फल, फिर थोड़ा अधिक फल, फिर अधिक, फिर अधिक उत्तरोत्तर अधिक से अधिक अथवा हीनाधिक भी संभव है।**

६. एक समय में कर्मबंध में निमित्त होनेवाला विभाव भाव (मिथ्यात्वादि बंध का निमित्त) एक प्रकार का होता है और

---

१. यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म की अपेक्षा बात की गई है। कालेपन की हीनाधिकता से कर्म की स्थिति-अनुभाग की हीनाधिकता जानना चाहिये।

नैमित्तिक कार्य अनेक प्रकार के होते हैं।

७. पूर्व में बंधे हुये चारों प्रकार के बंध के साथ नवीन कर्म में भी चारों प्रकार का बंध हो रहा है।

● अधिक से अधिक ७० कोडाकोडीसागरोपम काल पहले बाँधा गया कर्म संसारी जीव के पास विद्यमान रह सकता है।

अनादिकाल का कर्म किसी भी जीव के पास सत्ता में नहीं रहता।

● सिद्धराशि के अनन्तवें भाग, अभव्यराशि से अनन्तगुणा समयप्रबद्ध कर्म को जीव प्रतिसमय बांधता है। **समय-समय प्रति बांधता है, उसे समयप्रबद्ध कहते हैं।** अभव्यराशि से अनन्तगुणा ऐसा जो सिद्धराशि का अनन्तवाँ भाग, उस प्रमाण परमाणुओं के समूहरूप जो वर्गणा तथा उतनी ही वर्गणाओं के समूहरूप जो समयप्रबद्ध, उसको समय-समय प्रति बांधता है। **योग के वश विसदृश बंध होता है, कभी बहुत परमाणुओं का बंध होता है, कभी थोड़े परमाणुओं का बंध होता है। सामान्यपने पूर्वोक्त प्रमाण ही रहते हैं।**[१]

● समय-समय प्रति एक समयप्रबद्ध निर्जरित होता है, उदयरूप होता है। अथवा सातिशय क्रियासंयुक्त जो आत्मा उसके सम्यक्त्वादि की प्रकृतिरूप योग, उसके द्वारा निर्जरा के जो ग्यारह स्थान गुणस्थानाधिकार में कहे हैं, उनकी विवक्षा से एक समय में अनेक समयप्रबद्ध भी निर्जरित होते हैं।

● पुनश्च डेढ़ गुणहानि के प्रमाण से समयप्रबद्ध को गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने कर्म-परमाणु प्रतिसमय सत्तारूप रहते हैं।[२]

● गोम्मटसार कर्मकाण्ड (बड़ा) ग्रन्थ में समय प्रबद्ध बंध एवं उदय के लिये ६३०० कर्म परमाणुओं का दृष्टान्त दिया गया है। उसे वहीं से जानना चाहिये।

●

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-४ २. वही, गाथा-५

२ सत्ता

१. कर्म की द्वितीय अवस्था का नाम **सत्ता** करण है।

२. कर्म का बंध होते ही कर्म की सत्ता (सत्त्व, अस्तित्व) बनती है, उसे ही कर्म का **सत्त्व करण** कहते हैं।

३. अनेक समयों में बँधे हुए कर्मों का विवक्षित काल तक जीव के प्रदेशों के साथ अस्तित्व होने का नाम **सत्त्व** है।

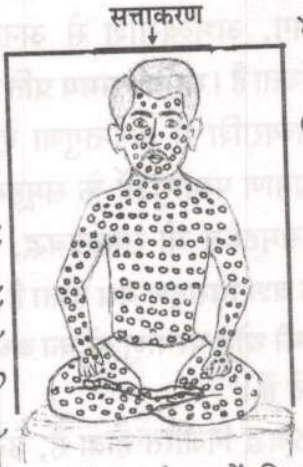

● चित्र में जो अनेक छोटे-छोटे गोल दिखाये गये हैं; वे कर्मों के समूह के हैं।
● वस्त्र पहिनाया है और बाल दिखाये गये हैं, वहाँ भी कर्मों का बंध एवं सत्ता है।

४. ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की १४८ कर्म-प्रकृतियाँ **सत्त्व**-योग्य हैं।

५. पुण्य कर्मरूप प्रकृतियों की संख्या ६८ है और पापप्रकृतियों की संख्या १०० है। यहाँ २० कर्म-प्रकृतियों की बढ़ोतरी इसलिए हुई है कि **स्पर्शादि २० कर्म-प्रकृतियाँ पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं।**

६. तीर्थंकर कर्म-प्रकृति के सत्त्ववाले जीव, संसार में नित्यमेव असंख्यात रहते हैं; नरकों में भी असंख्यात हैं और स्वर्गों में भी असंख्यात हैं।

७. **जिन जीवों के एक बार मिथ्यात्व कर्म का असत्त्व हो जाता है, उनके फिर से मिथ्यात्व का सत्त्व कभी नहीं हो सकता।**

८. तीर्थंकर कर्म प्रकृति की सत्ता **तीसरे नरक पर्यंत ही होती है।**

९. तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता ऊपर तो **सौधर्मादि सभी स्वर्गों में है।**

१०. **सिद्धों को छोड़कर सब जीवों में कर्म की सत्ता पाई जाती है।**

११. अरहंत परमात्मा के चार अघाति कर्मों की सत्ता रहती है।

१२. अरहंतों के भी **असाता वेदनीय कर्म की सत्ता रह सकती है।**

१३. कर्मबंध से फल-प्राप्ति के बीच की अवस्था, **सत्ता** कहलाती है।

१४. जीव के साथ सत्ता में स्थित कर्म, पदार्थों के **संयोगों में अथवा सुख-दुःख देने में निमित्त नहीं होते। इस कारण सत्त्व में स्थित कर्म को मिट्टी के ढेले के समान कहा है।**[1]

१५. सत्त्व, बंध का कार्य है और उदय का कारण है।

१६. जैसी कर्म की सत्ता है, वैसा ही जीव को फल मिलने का नियम नहीं है; क्योंकि **कर्म का उदयकाल आने के पहले सत्त्वस्थित कर्म में परिवर्तन होने की संभावना रहती है।**

१७. बंध करण के जैसे प्रकृतिबंध आदि चार भेद हैं, वैसे ही सत्त्व करण के भी १. प्रकृतिसत्त्व, २. प्रदेशसत्व, ३. स्थितिसत्त्व, ४. अनुभागसत्त्व - ये चार भेद हैं।

१८. तिर्यंचों में तीर्थंकर कर्म प्रकृति की सत्ता नहीं होती।

१९. एक जीव के भुज्यमान और बद्धयमान दो आयु कर्म की सत्ता रह सकती है।

२०. नारकियों में देवायु कर्म का सत्त्व नहीं रहता।

२१. देवों में नरकायु कर्म का सत्त्व नहीं रहता।

२२. यद्यपि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म-परमाणु विद्यमान हैं; तथापि आत्मा उसी समय स्वभाव से ही उन कर्म-परमाणुओं से अस्पर्शित है; क्योंकि आत्मा में स्पर्श गुण नहीं है।

२३. पूर्व-संचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना, **सत्ता** है।

२४. शुभपरिणाम का निमित्त होने पर सत्ता में स्थित साता-वेदनीय कर्म आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में **वृद्धि (उत्कर्षण)** हो जाती है।

२५. अशुभपरिणाम का निमित्त होने पर सत्तास्थित सातावेदनीय आदि समस्त पुण्य कर्म प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में **हानि (अपकर्षण)** हो जाती है।

---

१. समयसार, गाथा-१६९

३-४. उदय/उदीरणा

१. कर्म का आबाधाकाल पूर्ण होते ही कर्मों के फल देने को **उदय** कहते हैं।

२. **अनेक समयों में बँधे हुये कर्म, एक समय में उदय में आते हैं।**

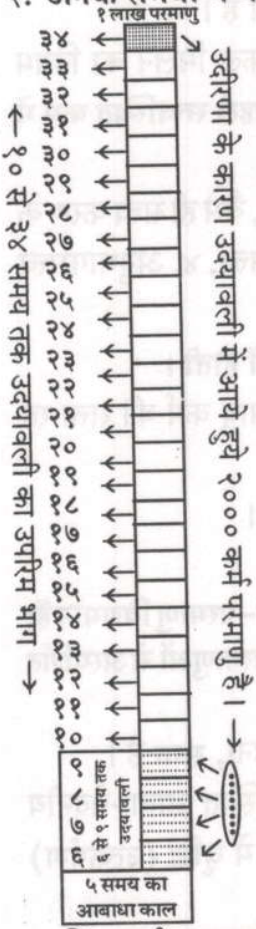

३. सुनिश्चित क्रम से कर्म, जीव को फल देते हैं; उसे **उदय** कहते हैं। तत्पश्चात् कर्म कार्मणवर्गणा आदि रूप परिणमते हैं।

४. **उदयावली में स्थित कर्म के निषेकों की स्थिति, क्रम से पूर्ण होती रहती है और निषेक फल देते रहते हैं,** उसे **उदय** कहते हैं।

५. एक आवली काल पर्यंत कर्म-निषेकों का लगातार उदय आता रहता है, उसे **उदयावली** कहते हैं। **असंख्यात समयों की १ आवली** होती है।

६. **नक्शे में छठे समय से लेकर ९वें समय पर्यंत के** एक आवली काल को **उदयावली** कहा है।

७. कर्म का उदय यथाकाल होता है और कर्म की उदीरणा अयथाकाल।

४. उदीरणा

१. माना कि ३४वें समय में सत्त्वस्थित **१ लाख** कर्म-परमाणु हैं। उनमें से २००० कर्म-परमाणु उदयावली में आकर मिलते हैं और अपना यथायोग्य फल देते हैं। अर्थात् कर्मों की स्थिति पूर्ण होने के पहले ही वे उदय में आ रहे हैं। इस प्रक्रिया को **उदीरणा** कहते हैं।

२. **जिन कर्म-परमाणुओं/निषेकों की उदीरणा हो गयी है; वे उदयावली में आकर मिलते हैं, उदयावली के बाहर नहीं।**

३. उदाहरण में उदीरणा के कारण दीर्घकाल के बाद उदय आने-योग्य २००० कर्मपरमाणु, जीव के विशेष परिणामों से उदयावली (नक्शे के ६ से ९वें समय) में आकर मिल गए हैं; इसे ही **उदीरणा** कहते हैं।

४. अपक्व-पाचन को (अकालपाक को) **उदीरणा** कहते हैं।

५. **उदीरणा के प्रभाव से कर्म-निर्जरा में विशेषता आ जाती है।**

६. **उदीरणा, उदीयमान कर्मों की ही होती है** अर्थात् उदीरणा, उदय के अनुसार ही होती है। **उदय पुण्य कर्म का हो तो उदीरणा भी पुण्य की होगी।**

७. उदीरणाकरण के ४ भेद हैं - १. प्रकृति उदीरणा २. स्थिति उदीरणा ३. अनुभाग उदीरणा और ४. प्रदेश उदीरणा।

८. उदय के प्रकरण में जो उदय-व्युच्छिति का कथन है, उसका यह भी प्रयोजन है कि जितनी कर्म-प्रकृतियों की जहाँ उदय-व्युच्छिति होती है उससे आगे के गुणस्थानों में उन कर्म-प्रकृतियों के उदयाभाव की तरह उदीरणा का अभाव भी हो जाता है।

९. **सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्म-प्रकृति का उदय होता है, वहीं उस कर्म-प्रकृति की उदीरणा हो सकती है, अन्यत्र नहीं।**

१०. साता, असाता व मनुष्यायु; इन तीन कर्म का **उदय तो चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक** होता है; परन्तु इनकी **उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है।**

११. देवों के उत्पत्ति के समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक साता-वेदनीय, हास्य एवं रति कर्म की नियम से उदीरणा होती है, आगे अनियम से होती है। इससे ज्ञात होता है कि देव, उत्पत्तिकाल के प्रारंभिक अन्तर्मुहूर्त में नियम से प्रसन्न व सुखी रहते हैं। इनके सातावेदनीय, हास्य व रति कर्म का **उदीरणाकाल, उत्कृष्ट से छह मास है।**

१२. **नारकियों में उत्पत्तिकाल से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक अरति, शोक व असाता कर्म की नियम से उदीरणा होती है।**

१३. **संसारी जीव के उदयकृत परिणामों की अपेक्षा उदीरणा से जो परिणाम होते हैं, उनमें अधिक तीव्रता होती है।**

१४. मरण समय के अन्तिम आवली काल में अपनी-अपनी आयु कर्म का **उदय ही होता है, उदीरणा नहीं।**

१५. क्षीणकषाय गुणस्थान के काल में दो समयाधिक आवली शेष रहने तक निद्रा-प्रचला कर्म का उदय और उदीरणा दोनों होते हैं।

उदय हेतु उदाहरण

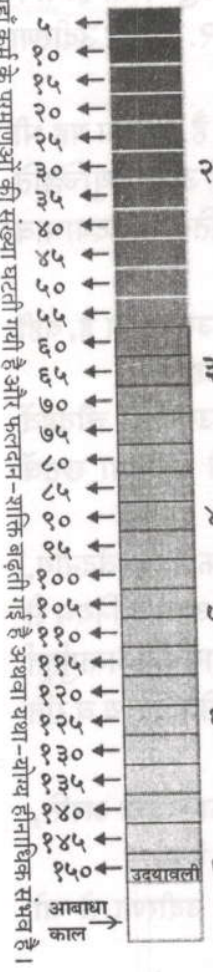

१. एक समय में अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओं का उदय आता है। उनका विभाजन ३० समयों में (आबाधाकाल के ३००० वर्ष कम ३० कोडाकोडी सागरोपम के प्रत्येक समय में) करके दिखाया है।

२. ← यह एक स्थान १ कोडाकोडी सागरोपम का माना गया है; ऐसे तीस स्थान है अर्थात् ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति, ३० कोडाकोडी सागरोपम; इस उदाहरण में बताई गई है।

३. कर्मोदय के प्रथम समय में १५० परमाणुओं का उदय माना गया है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक समय में अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं का उदय आता है।

४. अन्तिम समय में ५ कर्म-परमाणुओं का उदय उदाहरण रूप से बताया है।

५. प्रथम समय में कर्मपरमाणु अधिक है और उनकी अनुभाग (फलदान) शक्ति कम रहती है।[१]

६. पूर्वबद्ध विशिष्ट कर्म के अन्तिम समय में कर्मपरमाणु कम और उनकी अनुभाग (फल देने की) शक्ति अधिक रहती है।[२]

७. जिस समय ज्ञानावरण कर्म का उदय आ रहा है, उसी समय मोह परिणाम विद्यमान होने से ज्ञानावरण आदि कर्मों का नूतन बंध भी होता ही है।

---

१. श्री टोडरमलजी कृत लब्धिसार टीका, भूमिका - पृष्ठ-७४, प्रकाशक दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई तथा लब्धिसार भूमिका, पृष्ठ-१४, प्रकाशक वीतरागवाणी प्रकाशन मुम्बई।

२. वही

● **नोट :-** कालेपन की हीनाधिकता स्थिति-अनुभाग की हीनाधिकता दिखाती है।

८. फल देकर जानेवाले ज्ञानावरण आदि कर्म एवं नए बँधने वाले ज्ञानावरण आदि कर्म में कुछ टकराव/परस्पर बाधा नहीं होती। सर्व कार्य सहज होते रहते हैं।

९. ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार व्यक्त ज्ञान में हीनाधिकता होती है; यह कथन निमित्त की मुख्यता से किया गया है।

वास्तविक स्वरूप तो यह है कि जीव वर्तमान काल में अपने तत्समय की योग्यतारूप सहज पुरुषार्थ से जैसा ज्ञान व्यक्त करता है; तदनुसार ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रहता है।

१०. वास्तविकरूप से देखा जाय तो **प्रत्येक कर्म का उदय एक समय का ही रहता है;** तथापि उदयरूप कार्य लगातार रहने से अनादि से ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय है; ऐसा कथन होता है।

११. एक अंतर्मुहूर्त पहले ही बँधा हुआ कर्म भी एक आवली मात्र आबाधाकाल पूर्ण होने पर किन्हीं जीवों को उदय में आ सकता है।

१२. जहाँ हम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म के उदय को बता रहे हैं, वहीं अन्य सभी कर्मों का उदय भी रहता ही है।

१३. एक समय में एक कर्म अथवा अनेक कर्मों के उदय से भिन्न-भिन्न कार्य अपने-अपने उपादान के अनुसार सतत होते रहते हैं; उनका परस्पर विरोध नहीं है - यह सब सहज है।

●

आबाधा काल

अब यहाँ कर्मों के आबाधा काल को बताते हैं। **आचार्य नेमिचन्द्र ने** गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है –

कम्मसरूवेणागय दव्वं ण य एदि उदयरूवेण।
रूवेणुदीरणस्स य आबाहा जाव ताव हवे।।[१]

१. ''कर्मस्वरूप से परिणत हुआ कार्मण द्रव्य, जब तक उदय या उदीरणारूप नहीं होता, तब तक का काल आबाधा काल कहलाता है।''

२. **एक कोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध का १०० वर्ष प्रमाण आबाधा काल होता है, यह नियम है।**[२]

३. इसीप्रकार अन्य कर्मों का भी आबाधा काल समझना चाहिए।

१. संज्ञी जीव के मिथ्यात्व कर्म की स्थिति ७० कोडाकोडी सागरोपम

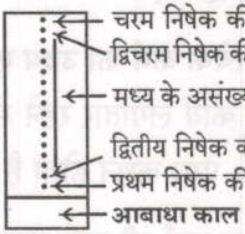

२. संज्ञी जीव के ज्ञानावरण कर्म की स्थिति ३० कोडाकोडी सागरोपम

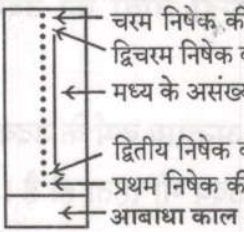

३. आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम

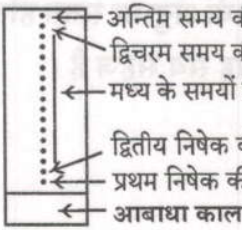

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-९१४ २. वही, गाथा-९१५

५ उत्कर्षण

१. सत्तास्थित कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना **उत्कर्षण** है।

२. नये कर्म-बंध के समय पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति में से कुछ कर्म परमाणुओं की स्थिति-अनुभाग का बढ़ना **उत्कर्षण** है। इसे उदाहरण से देखते हैं-

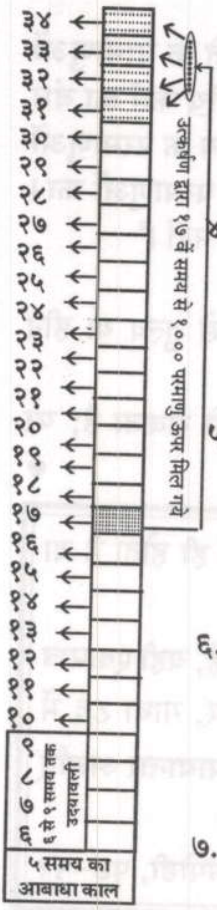

३. यथा १७वें समय में दस हजार (१०,०००) कर्म-परमाणु हैं। जीव के विशेष परिणामों के कारण उन दस हजार में से जो एक हजार कर्म परमाणु, अधिक स्थिति एवं अधिक अनुभाग वाले नवीन कर्म बंध में जाकर मिलते हैं; उसे **उत्कर्षण** कहते हैं।

४. पूर्वबद्ध कर्म में जो निम्न/प्रथमादि समयवर्ती कर्मों के निषेक हैं, उनमें कर्म-परमाणुओं की संख्या अधिक है और फल देने की अनुभाग शक्ति कम रहती है अथवा योग्यतानुसार हीनाधिकता भी हो सकती है।

५. ऊपर-ऊपर अर्थात् अधिक-अधिक स्थितिवाले कर्मों के निषेकों में कर्म-परमाणुओं की संख्या कम रहती है और फल देने की शक्ति अधिक रहती है अथवा योग्यतानुसार हीनाधिकता भी हो सकती है।

६. **इसतरह कम स्थिति-अनुभाग सहित कर्म, उपरिम नये बंधनेवाले तथा पूर्वबद्ध अधिक स्थिति तथा अधिक अनुभागवाले निषेकों में जाकर मिलते हैं; यही उत्कर्षण है।**

७. इसकारण उनकी स्थिति एवं अनुभाग स्वयं ही बढ़ जाते हैं - इस कार्य को **उत्कर्षण** कहते हैं।

८. यह कार्य घाति-अघाति दोनों कर्मों में जीव के परिणामों के निमित्त से हमेशा होता रहता है।

९. जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति कम है, उनकी स्थिति तत्काल बँधनेवाले कर्म के संबंध से बढ़ना उत्कर्षण है।[१]

१०. बंधावस्था में स्थित कर्मों में पूर्व की स्थिति या अनुभाग में वृद्धि, उत्कर्षण नाम को प्राप्त होती है।

११. उदयावली में स्थित कर्म के प्रदेशों का उत्कर्षण नहीं बनता।

१२. उदयावली के बाहर कर्म की स्थितियों का उत्कर्षण यथायोग्य संभव है।

१३. उत्कर्षण बंध के समय में तत्संबंधी कर्म प्रकृति के परमाणुओं का ही होता है। जैसे – यदि जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कर रहा है तो उसमें सत्ता में स्थित साता वेदनीय के परमाणुओं का ही उत्कर्षण होगा, न कि असाता वेदनीय के परमाणुओं का।

१४. तेरहवें गुणस्थान पर्यंत उत्कर्षण संभव है, आगे नहीं।[२]

१५. सभी कर्म प्रकृतियों में उत्कर्षण करण होता है।

१६. उत्कर्षित कर्म की स्थिति, बध्यमान स्थिति से तुल्य या हीन होती है; अधिक कदापि नहीं।

१७. आयु कर्म में बध्यमान आयु का उत्कर्षण हो सकता है; पर भुज्यमान आयु कर्म का नहीं। ●

प्रश्न : मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है?

उत्तर : स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार, गाथा ८६ में बताया है कि **स्वलक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना, उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे दर्शनमोह का क्षय होता है।**

– ज्ञानगोष्ठी, पृष्ठ–९२

१. जय धवला, पुस्तक–७, पृष्ठ–२४३
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा–४४२

६ अपकर्षण

१. कर्मप्रदेशों की स्थितियों में काल सापेक्ष हीनता का नाम **अपकर्षण** है।

२. अपकर्षण के द्वारा कर्मों की स्थिति और अनुभाग क्षीण हो जाते हैं।

३. स्थिति-अनुभाग के घटने का नाम **अपकर्षण** जानना।

४. **जीव के विशेष परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों (सत्त्वकरण में स्थित कर्मों) की स्थिति एवं अनुभाग घटते हैं, उसे अपकर्षण कहते हैं।**

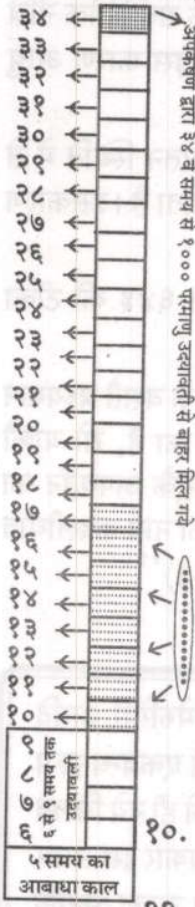

५. यथा ३४वें समय में दस हजार (१०,०००) कर्म-परमाणु हैं। जीव के विशेष परिणामों के कारण उन दस हजार परमाणुओं में से एक हजार कर्म परमाणु १७वें समय से लेकर १०वें समय पर्यंत (उदयावली के बाद) के सभी समयों के कर्म-परमाणुओं में डाले जाते हैं, उसे **अपकर्षण** कहते हैं।

६. अपकर्षित कर्म-द्रव्य उदयावली के बाहर अर्थात् उपरिम भाग में ही डाला जाता है।

७. यदि अपकर्षित कर्मद्रव्य उदयावली में डाला जायेगा तो उसे **उदीरणा** नाम प्राप्त होता है।

८. अपकर्षण के समय उस कर्म के **नवीन बंध की जरूरत नहीं होती।**

९. **विवक्षित निषेक का अपकर्षण होने पर वहाँ के संपूर्ण कर्म-निषेक समाप्त नहीं होते; किन्तु उस निषेक के कुछ परमाणु ही अपकर्षित होकर नीचे की स्थितियों में दिये जाते हैं।**

१०. प्रति समय में जितना कर्म (द्रव्य) नीचे के समय में निक्षिप्त किया जाता है, उसे **फाली** कहते हैं।

११. आदि स्पर्धक का **अपकर्षण** नहीं होता।

१२. उत्कर्षण, अपकर्षण से सत्ता में विद्यमान कर्म की प्रकृति एवं प्रदेशों में कोई बदलाव नहीं होता; किन्तु निषेकों में स्थित कर्म परमाणु स्थानान्तरण होने से हीनाधिक स्थिति-अनुभागवाले होते हैं।

१३. अपकर्षण से अपवर्तन भिन्न हैं; इसका खुलासा आगे देखें। ●

अपकर्षण-अपवर्तन में भेद

अपकर्षण और अपवर्तन दोनों एक नहीं, भिन्न-भिन्न ही हैं।

आयुकर्म का अपकर्षण होने पर भी आयु की स्थिति कम नहीं होती; क्योंकि जिस उपरितन स्थिति में से आयु कर्म के निषेक अधस्तन स्थिति में आते हैं उस उपरितन स्थिति में से आयु कर्म के सर्व निषेक नीचे नहीं आते कुछ निषेक ही अधस्तन स्थिति में आते हैं। **इस कारण आयु कर्म का नाश नहीं होता अर्थात् मरण भी नहीं होता।**

अपवर्तन के काल में आयुकर्म के सर्व निषेक उपरितन स्थिति में से अधस्तन स्थिति में आते हैं और आयुकर्म का नाश ही होता है। इसकारण मरण होता है।

अपवर्तन के संबंध में गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६४३ की टीका का कथन इसप्रकार है -

"आयु के बन्ध को करते जीव, तिनिकै परिणामनि के वशतै बध्यमान आयु का अपवर्तन भी होता है। **अपवर्तन नाम घटने का है,** सो याकौ अपवर्तनघात कहिए, जातैं उदय आई (भुज्यमान) आयुकै अपवर्तन का नाम कदलीघात है। (अर्थात् भुज्यमान आयु के घटने का नाम कदलीघात और बध्यमान आयु के घटने का नाम अपवर्तनघात है।)"

●●●

पण्डित प्रवर श्री टोडरमलजी ने कहा है - मेरुगिरि आदि अकृत्रिम स्कन्धों में अनन्त पुद्गलपरमाणु अनादि से एकबन्धनरूप हैं, फिर उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं, इस प्रकार मिलना बिछुड़ना होता रहता है। उसी प्रकार इस संसार में एक जीवद्रव्य और अनन्त कर्मरूप पुद्गलपरमाणु उनका अनादि से एकबन्धनरूप है, फिर उनमें कितने ही कर्मपरमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं। - इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।

- मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२२

७. संक्रमण

१. **विवक्षित कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का सजातीय अन्य कर्मप्रकृतिरूप परिणमन होने को संक्रमण कहते हैं। जैसे** – विशुद्ध परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म प्रकृति के परमाणुओं का साता वेदनीयरूप तथा संक्लेश परिणाम से पूर्वबद्ध साता वेदनीय कर्म के परमाणुओं का असाता वेदनीयरूप परिणमन होना।

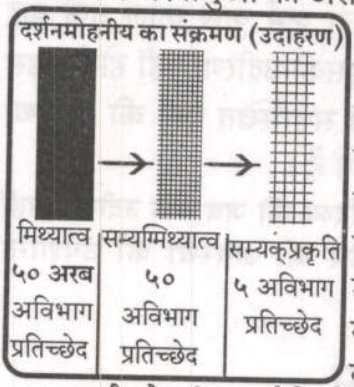

२. **एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप बदल जाना ही संक्रमण है।** ३. मूल कर्मप्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। ४. चारों आयुओं में आपस में संक्रमण नहीं होता। ५. मोहनीय कर्म का उत्तरभेद–दर्शनमोहनीय का चारित्र–मोहनीय में संक्रमण नहीं होता (संक्रमण नहीं होने का कारण इनकी कार्मण–वर्गणाएँ भिन्न–भिन्न है।)

६. दर्शनमोहनीय कर्म के भेदों में परस्पर संक्रमण होता है।

७. चारित्र–मोहनीय कर्म के भेदों में भी परस्पर संक्रमण होता है।

८. **मिथ्यात्व कर्म का संक्रमण, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म में होता है। सम्यग्मिथ्यात्व कर्म, सम्यक्प्रकृति में संक्रमित/ परिवर्तित होता है और सम्यक्प्रकृति कर्म, स्वमुख से उदय में आकर दर्शनमोहनीय कर्म, पूर्णरूप से नष्ट होता है।**

९. चारित्रमोहनीय कर्म की भी अनन्तानुबंधी चौकड़ी, अन्य १२ कषायों और नौ नोकषायों में संक्रमित (विसंयोजित) होती है। विसंयोजन होना एक प्रकार से संक्रमण ही है।

१०. संज्वलन क्रोध, मान में बदलता है। मान, माया में; माया, स्थूल लोभरूप में संक्रमित होती है। अन्त में सूक्ष्म लोभ कर्म **स्वमुख (उदय) से** नष्ट हो जाता है।

११. मतिज्ञानावरणादि कर्म, केवलज्ञानावरण में संक्रमित हो जाते हैं।

१२. केवलज्ञानावरण कर्म, मतिज्ञानावरणादि में बदल जाता है।

१३. कर्मों का यह संक्रमण ४ प्रकार का है। यथा – १. प्रकृति संक्रमण २. प्रदेश संक्रमण ३. अनुभाग संक्रमण और ४. स्थिति संक्रमण। ●

८. उपशान्त[1]

(अप्रशस्त उपशमनाकरण)

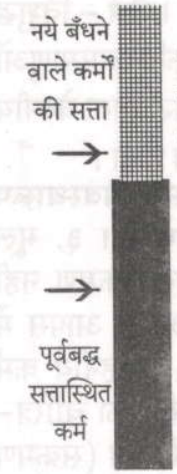

उपशांतकरण एवं उपशम इन दोनों में जो अन्तर/भेद है, वह स्पष्ट समझ में आना चाहिए; इसलिए हम यहाँ दोनों (उपशान्त व उपशम) को तुलना के साथ विशदरूप से दे रहे हैं।

१. नया बँधनेवाला कर्म कुछ काल तक बद्ध अवस्था में ही रहेगा; इसकी उदीरणा नहीं होगी। **इस उदीरणा के अभावरूप सत्तास्थित कर्म की अवस्था को उपशान्त करण** कहते हैं।

२. **सत्तास्थित कर्मद्रव्य की जब तक उदीरणा नहीं होती तब तक की कर्म की अवस्था को उपशान्त करण कहते हैं।**

उपशम

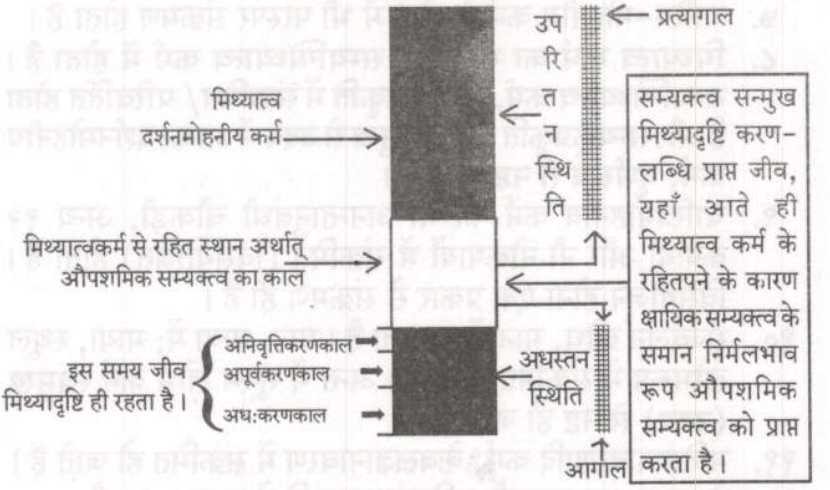

---

१. जयधवला पुस्तक-१३, गाथा-१२३/७६, पृष्ठ-२३१ (अप्रशस्त उपशमनाकरण को और उपशांत को एक ही बताया है।)

उपशान्त	उपशम
१. **जो कर्म उदय में नहीं आ सके, सत्ता में रहे, वह उपशांत करण कहलाता है।**	१. आत्मा के विशेष परिणामों के निमित्त से एवं कर्म की निजशक्ति के कारणवश कर्म का प्रगट न होना, **उपशम** है। जैसे - कतक आदि द्रव्य के संबंध से जल में कीचड़ का उपशम हो जाता है।
२. सत्ताविषैं तिष्ठता अपनी-अपनी स्थिति को धरै हैं ज्ञानावरणादिक कर्म का द्रव्य जा विषैं, जाकी जावत् काल उदीरणा न होय तावत् काल **उपशांत करण** कहिए।	२. **परिणामों की विशुद्धता के निमित्त से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रगट न होना, यह कर्म का उपशम है।**
३. **उपशांत करण (अप्रशस्त उपशम) आठों कर्मों में होता है।**	३. अन्तरकरणरूप उपशम-दशा (क्रिया) मात्र **दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म में** होती है; अन्य किसी भी कर्म में नहीं।
४. **कर्म की दस अवस्थाओं में उपशांत करण है।**	४. **कर्मों की दस अवस्थाओं में उपशम करण नहीं है।**
५. धर्म (वीतरागता) प्रगट करने के लिए उपशांतकरण कुछ उपयोगी नहीं है।	५. **उपशम निमित्तक औपशमिक भाव, स्वयं धर्मरूप ही है।**
६. उपशांत करण भव्य-अभव्य दोनों जीवों के होता ही है।	६. औपशमिक भाव मात्र भव्य जीवों को ही होता है।
७. उपशांत करण अनादि से है; क्योंकि प्रत्येक भव्य-अभव्य जीव के कर्म में उपशांत करण होता ही है।	७. उपशम (कर्म की अवस्था) **सादि** है; क्योंकि किसी भी जीव को धर्म प्रगट होगा तो उसे दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमपूर्वक ही होगा।
८. कर्म में उपशांत करण यह अवस्था कर्म की अपनी उपादानगत पात्रता से होती है।	८. **मोहनीय कर्म में उपशम, अधःकरण आदि धर्मसन्मुख परिणामों के निमित्त से अथवा साक्षात् वृद्धिंगत धर्म परिणामों से होता है।**

९. निधत्ति

१. **सत्ता में स्थित जिस कर्म का संक्रमण व उदीरणा नहीं होते, उसे निधत्ति कहते हैं।**

२. **निधत्ति करण आठों कर्मों में होता है।**

३. निधत्ति कर्म में **उत्कर्षण-अपकर्षण** दोनों हो सकते हैं।

४. **उदय में आकर फल देगा ही, यह निधत्ति की विशेषता है।**

५. निधत्ति कर्म-पुण्य-पाप दोनों रूप होता है।

६. **फल देने की मुख्यता है; इसलिए इस निधत्ति को दृढ़तर कर्म कहते हैं।**

७. संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य कर्म-प्रकृतियों को **निधत्ति** कहते हैं।

८. कर्म का संक्रमण नहीं होता, इसका अर्थ यह है कि जब जैसा पुण्य अथवा पाप कर्म बँधा है; वह उसीरूप में अर्थात् पाप, पापरूप में ही रहेगा और वैसा ही उदय में आयेगा तथा फल भी वैसा ही देगा। पाप, पुण्यरूप अथवा पुण्य, पापरूप संक्रमित नहीं होता।

९. निधत्तिरूप कर्म की उदीरणा नहीं होती अर्थात् यह अपने सुनिश्चित समय के पहले उदय में आकर फल नहीं देता।

१०. **आठवें गुणस्थान के पहले का निधत्ति कर्म, फल दिए बिना नहीं रहेगा; यह नियम है।**

११. निधत्तिरूप कर्म में उत्कर्षण होता है; इसका अर्थ जो जिस फलदानरूप शक्ति से सहित अथवा जिस समय में फल देना है, वह समय की अवधि/काल मर्यादा बढ़ सकती है; अनुभाग भी बढ़ सकता है। तथापि फल तो जिस स्वभावरूप से बँध गया है; उसी स्वभावरूप से देगा। **स्थिति-अनुभाग में बदल हो सकता है।**

१२. निधत्तिरूप कर्म दृढ़तर कर्म कहे जाते हैं। जैसे - सती सीता का

वर्तमानकालीन जीवन पवित्रता में आदर्शरूप होने पर भी **उनको पूर्वजन्म के निधत्तिरूप पापकर्म के कारण ही वनवास का प्रसंग, अग्निपरीक्षा, गर्भावस्था में वनवास इत्यादि पापमय फल मिलता रहा।**

१३. यदि पुण्यमय निधत्ति कर्म नहीं होता तो शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ जैसे जीवों को **कामदेवत्व, चक्रवर्तित्व** जैसे सर्वोत्तम पुण्य कर्म के अनेक पदों की प्राप्ति एक ही साथ कैसे हो जाती?

१४. यह बात तर्क से भी सिद्ध ही है कि नियोग जन्य पदों को यह जीव नहीं चाहते हुये भी भोगने के पूर्व नहीं छोड़ सकता।

१५. निधत्तिरूप कर्म जीव को फल देता ही है, यह कथन सापेक्ष है।

१६. **यदि जीव नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करता है तो इस नौवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही कर्म का निधत्तिपना नियम से नष्ट होता है।**[१] इस विषय को मूल से अवश्य देखना चाहिए, जिससे **जीव को कर्म का यथार्थ ज्ञान हो जावे।**

निधत्ति को ही अन्य शब्दों में फिर से स्पष्ट करते हैं –

''संक्रमण और उदीरणा के अयोग्य प्रकृतियों को निधत्ति कहते हैं'' – यह मूल परिभाषा है।

परिभाषाकार आचार्यों ने निधत्ति कर्म, किस-किस करण के लिए अयोग्य है, इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

हम यहाँ इस परिभाषा के आधार से ही **यह निधत्ति कर्म किस-किस कार्य के लिए योग्य है, यह जानने का प्रयास करते हैं;** जिससे हमें आचार्यों के कथन का भाव स्पष्ट समझ में आ सकें।

१. यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि इस प्रकृति का बंध तो हुआ ही है। यदि बंध ही नहीं होता तो इस कर्म की सत्ता कैसे बनती? अर्थात् **बंधरूप कार्य हुआ ही है; इसप्रकार बंधकरण सिद्ध हुआ।**

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-४५०

२. यदि कर्म के बंध का स्वीकार हुआ है तो बंध के कार्यस्वरूप इस निधत्तिरूप कर्म की **सत्ता** भी सहज ही सिद्ध हो जाती है।

३. **तीसरा करण उदय भी सहज ही सिद्ध हैं।** उदय तो होगा ही; क्योंकि निधत्ति **कर्म का उदय नियम से होता ही है; इस कारण से ही इस कर्म को फल देने में दृढ़तर कहा है।**

४. **उत्कर्षण एवं अपकर्षण** – ये दोनों करण निधत्तिरूप कर्म में होते हैं; क्योंकि परिभाषा में इनका निषेध नहीं किया है। उत्कर्षण और अपकर्षण – ये दोनों करण निकाचित में नहीं होते।

५. **उदीरणा करण** का निषेध तो निधत्ति की परिभाषा में ही किया है; इसलिए निधत्ति कर्म की उदीरणा नहीं होती।

६. **संक्रमण करण** का प्रतिषेध परिभाषा में ही किया है; अतः निधत्तिरूप कर्म में संक्रमण (बदल) भी नहीं होगा।

७. **उपशांत करण** होगा; क्योंकि निधत्तिरूप कर्म का बंध होने के बाद यह निधत्तिरूप कर्म, कुछ काल पर्यंत जीव के साथ रहेगा ही; इसलिए निधत्तिकर्म में उपशान्त करण होता है।

प्रश्न :– किसी जीव का निधत्तिकर्म, फल दिये बिना भी नष्ट हो सकता है क्या?

उत्तर :– हाँ, निधत्तिरूप कर्म विशिष्ट जीवों का फल दिये बिना भी नष्ट होता है। जैसे – जो जीव अपने विशेष पुरुषार्थ से अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करते हैं, उनके निधत्ति कर्मत्व का नाश होता है अर्थात् उनका निधत्तिपना नष्ट होकर वे निधत्तिरूप कर्म, सामान्यकर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं। (निकाचित करण में भी निधत्ति करण का और खुलासा किया जायेगा।)

●

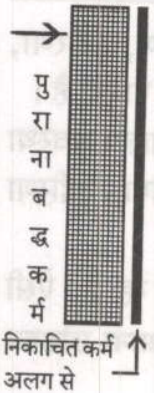

१०. निकाचित

१. संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण के लिए अयोग्य प्रकृतियों को **निकाचित करण** कहते हैं।

२. संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण – ये चारों करण निकाचित कर्म में नहीं होते।

३. निकाचित कर्म में फल देने की मुख्यता रहती है।

४. निकाचित कर्म का उदय द्वारा फल मिलता ही है।

५. निकाचित कर्म को दृढ़तम कर्म कहते हैं; क्योंकि इस कर्म में चार प्रकार की योग्यता नहीं है और ये कर्म उदय में आयेंगे और फल देंगे ही देंगे।

६. निकाचित कर्म पुण्य–पाप दोनोंरूप होता है।

अब निकाचित कर्म को अन्य शब्दों में भी स्पष्ट करते हैं –

१. यह निकाचित कर्म, पापरूप से बँध गया अथवा पुण्यरूप से बँध गया, वह कर्म वैसा का वैसा ही रहेगा; उसमें परिवर्तन की बिल्कुल सम्भावना नहीं है। **जिस प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप से कर्म बद्ध हो गया है; वह कर्म उसी रूप (अवस्था) में रहते हुए सुनिश्चित समय पर पूर्णरूप से फल देगा।**

२. **स्थिति–अनुभाग** कम होने की सम्भावना के लिए कुछ अवकाश ही नहीं है; क्योंकि परिभाषा में ही कर्म के **उदीरणा व अपकर्षण** की भी अयोग्यता स्पष्ट रूप से बताई गयी है। **उदीरणा एवं अपकर्षण के कारण ही कर्मों के स्थिति–अनुभाग घटते हैं।**

३. पूर्वबद्ध कर्म में स्थिति–अनुभाग बढ़ने के लिए भी मानो रोक ही लगा दी गयी है; क्योंकि उत्कर्षण (स्थिति–अनुभाग का बढ़नेरूप कार्य) का अभाव भी परिभाषा में विशद शब्दों में बताया है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि बंध आदि दस करणों में से बंध तथा सत्तारूप कार्य पहले ही हो चुके हैं। अब फिर से इस कर्म के लिए बंध, सत्ता होने का काम नहीं। संक्रमण आदि चार करणों का तो निकाचित के

स्वरूप में ही निषेध है - इन छहों (बंध, सत्ता, संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण) में से सबको मानो प्रवेश के लिए ही पाबंदी है।

उपशांत करण में गर्भित कर्म भी उदय के पहले अर्थात् सत्तारूप अवस्था में मिट्टी के ढेले के समान ही है; क्योंकि न उसका उदय आयेगा न उदीरणा होगी। यह करण वर्तमान में निष्क्रिय ही है।

निधत्ति करण का कार्य भी निकाचित करण स्वयं कर रहा है। ऐसी अवस्था में अब निकाचित कर्म प्रकृतियों को **उदय में आना छोड़कर अन्य कोई मार्ग/उपाय ही नहीं है।**

इसलिए पुण्य या पापरूप से पूर्वबद्ध निधत्ति व निकाचित प्रकृतियों का मात्र उदय में आकर फल देना ही काम रहता है। इसकारण ही सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार, पंचपांडव आदि भावलिंगी मुनिराजों को भी पापरूप निधत्ति-निकाचित प्रकृतियों का फल भोगना अनिवार्य हो गया था।

इसीप्रकार भरत चक्रवर्ती आदि तद्भव मोक्षगामी पुरुषों को भी निधत्ति-निकाचितरूप पुण्यकर्म का फल भोगना अनिवार्य हो गया था। इसी कार्य को शास्त्र में 'नियोग' शब्द से भी कहा गया है।

इसका अर्थ निधत्ति-निकाचितरूप से बद्ध कर्मप्रकृतियों का फल भोगना ही अनिवार्य है; ऐसी धारणा समाज में अति दृढ़ हो गयी है; तथापि **यह बात सर्वथा इस ही प्रकार की नहीं है।**

कर्म में निधत्ति-निकाचितरूप से बद्ध कर्म का फल भोगना ही अनिवार्य है, यह सापेक्ष कथन है। इसकी दूसरी विवक्षा भी हमें शास्त्र के आधार से समझना आवश्यक है।

खेद इस विषय का है कि समाज को दूसरी विवक्षा का ज्ञान कराया ही नहीं जाता। मात्र कर्म बलवान ही है; यही समझाया जाता है।

निधत्ति-निकाचितरूप कर्मों का नाश भी जीव, अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में प्रवेश के प्रथम समय में ही करता है, यह विषय बताया ही नहीं जाता।

"ये तीनों कर्म (उपशांत, निधत्ति तथा निकाचित) अपूर्वकरण

गुणस्थान पर्यंत ही पाये जाते हैं; क्योंकि अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही सभी कर्मों के तीनों करण, युगपत् व्युच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।''[१]

आचार्य वीरसेन स्वामी भी इसीप्रकार की बात कहते हैं –

''उसी अनिवृत्ति करण काल के प्रथम समय में अप्रशस्त उपशामना-करण, निधत्ति करण और निकाचना करण व्युच्छिन्न होते हैं।

संभी कर्मों के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करने के प्रथम समय में ही ये तीनों ही करण, युगपत् व्युच्छिन्न हो जाते हैं, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

उसमें जो कर्म-अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसंक्रमण के योग्य होकर पुनः उदीरणा के विरुद्ध स्वभावरूप से परिणत होने के कारण उदयस्थिति में अपकर्षित होने के अयोग्य है, वह उस प्रकार से स्वीकार की गई अप्रशस्त उपशमना की अपेक्षा **उपशान्त ऐसा कहलाता है। उसकी उस पर्याय का नाम अप्रशस्त उपशामना करण है।**

इसी प्रकार जो कर्म, अपकर्षण और उत्कर्षण के अविरुद्ध पर्याय के योग्य होकर पुनः उदय और परप्रकृतिसंक्रमणरूप न हो सकने की प्रतिज्ञारूप से स्वीकृत है, उसकी उस अवस्था विशेष को **निधत्ति करण** कहते हैं।

परन्तु जो कर्म उदीरणा होकर उदयादि इन चारों के अयोग्य होकर अवस्थान की प्रतिज्ञा में प्रतिबद्ध है, उसकी उस अवस्थान लक्षण पर्यायविशेष को **निकाचना करण** कहते हैं।

इसप्रकार ये तीनों ही करण, इससे पूर्व सर्वत्र प्रवर्तमान थे; यहाँ अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी व्युच्छित्ति हो जाती है। इनके व्युच्छिन्न होने पर सभी कर्म अपकर्षण, उत्कर्षण, उदीरणा और पर प्रकृतिसंक्रमण-इन चारों के योग्य हो जाते हैं; यह इस सूत्र का भावार्थ है।''[२]

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-४५०

२. जयधवला, पुस्तक-१३, गाथा-१२३/७६, पृष्ठ-२३१

करण-ज्ञान से लाभ

(१) प्रश्न : बन्ध करण को जानने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : १. कर्म-बंध में निमित्तरूप मोह परिणाम एक ही होता है और जीव को होनेवाला नया कर्म-बंध अनेक प्रकार का होता है।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निमित्त एक होने पर भी नैमित्तिक कार्य अनेक प्रकार का होता है। इस कारण निमित्त कुछ नहीं करता और प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्त्ता स्वतंत्ररूप से होता है - यह विषय सिद्ध होता है। **जैसे** - एक समय के मिथ्यात्व परिणाम से बंधनेवाला मिथ्यात्वकर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति-अनुभाग वाला होता है। कोई निषेक ७००० वर्ष स्थिति का तो कोई निषेक ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक स्थिति वाला होता है।

२. जैसे संसारी जीव को दुःख होता है, वह दुःख जीव के सुखस्वभाव की सिद्धि करता है; वैसे बंध करण को जानने से ही अबंध स्वभाव का अर्थात् अनादिकाल से मैं मुक्तस्वरूपी ही हूँ, ऐसा दृढ़ निर्णय होता है।

३. आज तक के जो अनंत जीव, सिद्धालय में सिद्ध परमेष्ठीरूप से विराजमान हैं, वे जीव भी भूतकाल में हम जैसे ही संसार अवस्था में कर्मों से बँधे हुए थे, दुःखी थे; तथापि विशिष्ट पुरुषार्थ से जैसे वे कर्मों से रहित होकर मुक्त हो गये हैं/अनन्त सुखी हो गये हैं; वैसे ही मैं भी सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक सिद्ध बन सकता हूँ; ऐसा विश्वास उत्पन्न होता है।

४. नाना जीवों की अपेक्षा से बंध करण अनादि-अनन्त है। अभव्य जीव के लिए बंध करण नियम से अनादि-अनन्त ही होता है; तथापि हम जैसे भव्यों के लिए बंध करण अनादि होने पर भी अनन्त नहीं हो सकता, वह सान्त ही है; ऐसा निर्णय होने से सही पुरुषार्थ होता है।

५. प्रत्येक संसारी जीव को शुभाशुभ परिणामों से सात अथवा आठ कर्मों का प्रतिसमय नया-नया कर्म का बंध हो रहा है - ऐसा ज्ञान होता है।

६. बंध करण जानने से ही **बंध तत्त्व का भावभासनपूर्वक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होता है।**

(२) प्रश्न : सत्त्व (सत्ता) करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. सत्ता में स्थित कर्म, आत्मगुणों के अथवा आत्मगुणों की पर्यायों के घात में निमित्त नहीं होते - ऐसा निर्णय होता है।

२. यदि वर्तमान में निरपराधी होकर भी हमें दण्ड मिलता है तो भी सत्ता का स्वरूप समझने से हमें अनुचित आकुलता (दुःख-बेचैनी) नहीं होती; क्योंकि हम जानते हैं कि मेरी ही सत्ता में मेरा ही किया हुआ/बांधा हुआ पूर्व जन्म का पाप कर्म मौजूद था। उस पूर्व जन्म के पाप कर्म का फल भोगना अनिवार्य हो गया है - ऐसे विचार से स्वयं के ही दोष देखने की भावना जागृत होती है।

३. कर्म का अस्तित्व (सत्त्व) परंपरा की अपेक्षा से अनादि का है; इसलिए जीव के भी अनादिपने की सिद्धि में कर्म की सत्ता आधार है।

४. अनन्तानन्त कर्म और मैं एक जीव द्रव्य, एकक्षेत्रावगाह में - (आकाश के एक ही स्थान में) अनादि काल से रहते आये हैं। जड़ कर्म अनन्तानन्त हैं तथा मैं जीव, एक ही हूँ; तथापि कर्म मेरा नाश नहीं कर पाये - ऐसा भेदज्ञान उदित हो सकता है। जैसे खदान में स्वर्ण और कालिमा-किट्टिमा का संयोग अनादि से स्वयं हैं; **वैसे कर्म और जीव का परस्पर अवगाह संबंध भी अनादि से स्वयमेव हैं।**

(३) प्रश्न : उदय करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. कर्म का आबाधाकाल पूर्ण होते ही कर्म के फल देने को **उदय** कहते हैं; उदय होने पर वे कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। तदनुसार पाप कर्म के उदय के समय में मुझसे पाप दूर जा रहा है - ऐसा ज्ञान होना आवश्यक है। कर्म शत्रु, हमसे अलग हो रहा है - यह जानकर हमें आनन्दित होना चाहिए। पाप कर्मरूपी शत्रु को प्रसन्नता से बिदाई देने में ही समझदारी है।

२. जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करने में ज्ञानावरणादि घातिकर्म निमित्त हैं और अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में वेदनीयादि अघाति कर्म निमित्त हैं - ऐसा ज्ञान होने से **बाह्य में किसी को भी शत्रु-मित्र मानने की खोटी कल्पना का नाश होता है।**

३. पापोदय से प्राप्त प्रतिकूलता में मेरा ही पूर्वभव का अपराध कारण है - यह जानकर ज्ञाता-दृष्टारूप रहने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

४. किसी विशेष व्यक्ति अथवा बाह्य जड़ पदार्थ को दोषी मानने की भावना नष्ट होती है।

५. मुझे सुखी वा दुःखी करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है – ऐसी दृढ़ श्रद्धा होती है।

६. कर्म का उदय पौद्गलिक जड़ कर्म की अवस्था है और मैं तो अनादि से ज्ञाता-दृष्टा हूँ, चैतन्यस्वरूपी जीव हूँ – ऐसा निर्णय होता है तथा दोनों के स्वभावों का स्वरूप जानने से भेदज्ञान प्रगट होता है।

७. उदय के स्वरूप को समझने से उदय के संबंध में अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान होता है, आनन्द होता है।

८. किसी भी कर्म का किसी भी जीव को अनुकूल या प्रतिकूल उदय कभी भी आ सकता है – ऐसा जानकर वर्तमानकालीन संयोगों और संयोगी भावों के प्रति एकत्व-ममत्व का भाव नष्ट होता है अथवा उनमें मंदता आती ही है अर्थात् **कषायें मंद होती हैं।**

९. जड़ कर्म का उदय-काल तथा चेतनास्वरूप जीव का औदयिक भाव – इन दोनों का समय एक है अर्थात् कर्मोदय एवं औदयिकभावों में मात्र बाह्य अविनाभाव और कालप्रत्यासत्ति है – ऐसा स्पष्ट ज्ञान होने से कर्म, जीव को विकार भाव उत्पन्न कराते हैं – ऐसी मिथ्या भ्रान्ति निकल जाती है।

१०. 'मैं भगवान आत्मा' संयोग एवं संयोगी-भावों से भिन्न हूँ – ऐसी प्रतीति करने की अनुकूलता बनती है।

११. विश्व के अनेक जीवों की विभिन्न प्रकार के उदय तथा उदीरणाजन्य अवस्थाओं को देखकर वैराग्य/**विरक्ति उत्पन्न होती है।**

यदि पहले से ही वैराग्य/विरक्ति हो तो उदय को समझने से वैराग्य की वृद्धि होती है। इसप्रकार तथा और भी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

(४) प्रश्न : उदीरणा करण को समझने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. निश्चित समय से पूर्व ही कर्म के उदय में आने को **उदीरणा** कहते हैं। उदीरणा से हमें यह समझ में आता है कि जीव के पूर्वबद्ध कर्मोदय के काल में बदल/परिवर्तन होता है। कर्म-बंध के समय में ही यह निश्चित होता है कि यह कर्म उदीरणा द्वारा फल देगा।

२. उदीरणा कर्म की अवस्था है और शुभाशुभ तथा शुद्ध परिणाम जीव के हैं - ऐसा भेदज्ञान उदित होता है।

३. यदि उदीरणा करण नहीं होता तो कर्म-निर्जरा में विशेषता प्राप्त नहीं होती। वीतरागता/धर्म बढ़ाने के लाभ का अभाव हो जाता।

४. किसी भी जीव को तीव्र कषाय से परिणत जानकर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि इनको पूर्वबद्ध कषाय कर्म की उदीरणा हो रही है। हमें तो ऐसे प्रसंग में शान्त रहने में लाभ है - ऐसा सम्यक् बोध उत्पन्न होता है। **अपने परिणामों को संभालने की प्रेरणा प्राप्त होती है।**

५. उपसर्ग विजयी मुनिराज एवं परिषहजयी साधु-सन्त अपने पाप कर्म की उदीरणा हो रही है - ऐसे यथार्थ ज्ञान से सहज स्वरूप में मग्न रहते हैं। उनका यह पुरुषार्थ देखकर प्रतिकूल परिस्थिति में हमें भी **शान्तचित्त से रहने की प्रेरणा मिलती है।**

(५) प्रश्न : उत्कर्षण एवं अपकर्षण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : १. उत्कर्षण एवं अपकर्षण करण को जानने से तत्संबंधी अज्ञान का नाश होता है तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

२. सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो विभिन्न प्रकार की अनेक अवस्थाएँ झलकती हैं, उन्हें जानने से सर्वज्ञ भगवान की/सच्चे देव एवं सच्चे शास्त्र की विशेष महिमा आती है।

३. पूर्वबद्ध कर्मों में स्थिति-अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है तथा स्थिति-अनुभाग का घटना, अपकर्षण है - यह समझने से प्रत्येक संसारी जीव, पूर्वबद्ध कर्मों के संयोग से सहित ही है; ऐसा ज्ञान होता है।

४. पूर्वबद्ध कर्मों में परिवर्तन होने में निमित्तरूप जीव के शुभाशुभ परिणाम हमेशा होते ही रहते हैं, ऐसा ज्ञान होता है।

५. परिणामों में सतत परिवर्तन होता रहता है - इसका अर्थ अपने परिणामों की अस्थिरता/चंचलता भी हमें समझ में आती है।

६. परिणामों में सम्यक् परिवर्तन होने से ही जीव संसार से मुक्त अवस्था प्राप्त कर सकता है - ऐसा ज्ञान व श्रद्धान होता है।

७. कर्मों में प्रति समय फेरफार होते हुए भी परिणामों की क्रमबद्धता में बाधा नहीं आती। मैं तो स्वभाव से इन सभी (शुभाशुभ तथा शुद्ध)

परिणामों से भी सर्वदा तथा सर्वथा भिन्न टंकोत्कीर्ण स्वभावी हूँ – ऐसी प्रतीति बराबर बनी रहती है।

अन्य जीव भी स्वभाव से अबद्धस्पृष्ट ही हैं – ऐसा ज्ञान होता है अर्थात् परिणामों से अपरिणामी भगवान आत्मा का पता लगता है।

८. उत्कर्षण-अपकर्षण में निमित्त रूप परिणामों को जानते हुए भी श्रद्धा में अपरिणामी तत्त्व साधक के जीवन में ऊर्ध्व रहता है, इसका यथार्थ निर्णय होता है।

९. उत्कर्षण-अपकर्षण से परिवर्तित पुण्य-पाप कर्मों का मैं मात्र ज्ञाता हूँ, यह भाव जागृत होता है। इसप्रकार **पुण्य-पाप कर्म में समभाव उत्पन्न होता है।**

१०. **मात्र तात्कालिक औदयिक परिणामों से किसी को अच्छा-बुरा समझना अपराध है; ऐसी यथार्थ जानकारी होती है।**

११. जीव का परिणाम, निमित्त है और पूर्वबद्ध कर्मों में उत्कर्षण एवं अपकर्षण होना, नैमित्तिक कार्य है – इसतरह स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान होता है।

(६) प्रश्न : संक्रमण करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : पिछले प्रकरण में अब तक हमने देखा – बंध करण में तो कर्म का नया बंध होता है। सत्त्व करण में बद्ध कर्म, जीव के साथ मिट्टी के ढेले के समान पड़ा रहता है। उदय करण तो सत्त्व करण का फलरूप कार्य है। उदीरणा करण, एक दृष्टि से उदय ही है। उत्कर्षण एवं अपकर्षण में मात्र स्थिति-अनुभाग यथा-योग्य बढ़ते-घटते हैं। अब संक्रमण की अपूर्वता बताते हैं –

संक्रमण करण का काम एक प्रकार से क्रांतिकारी कार्य है। उसका खुलासा इसप्रकार है –

१. इस संक्रमण करण से कर्म में बदल होने का नया कार्य होता है; इसकारण यह संक्रमण करण आमूलचूल क्रांतिकारी कार्य है।

२. संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनंतानुबंधी की विसंयोजना सर्व-संक्रमणरूप ही है। **क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अनन्तानुबंधी की विसंयोजना अनिवार्य रहती है।**

मिथ्यात्व का संक्रमण सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति में होता रहता है। इसी क्रम से मिथ्यात्व कर्म, सभी कर्मों में सर्वप्रथम नष्ट होता है।

तदनन्तर मिश्र/सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म का संक्रमण सम्यक्प्रकृति में होता है। सम्यक्प्रकृति स्वोदय से नष्ट होती है।

इसतरह संक्रमण के बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

३. श्रेणी में भी अप्रत्याख्यानावरण + प्रत्याख्यानावरण – इन आठों कषाय कर्मों का संक्रमण के द्वार से ही अभाव होता है।

४. संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं स्थूल लोभ उत्तरोत्तर संक्रमित होते हुए सूक्ष्मलोभरूप से परिणत होते हैं; इसलिए **चारित्र की पूर्णता में संक्रमण करण, अपना विशेष महत्त्व रखता है।**

५. कर्मरूप पुद्गलों में संक्रमण, अपनी–अपनी पात्रता से ही स्वतंत्ररूप से होता है; यह विषय स्पष्टरूप से ज्ञात होता है।

संक्रमणरूप कार्य का कर्ता, कर्मरूप पुद्गल ही है; जीव द्रव्य नहीं। जीव द्रव्य के परिणाम संक्रमण में निमित्त हैं। **संक्रमण से उदय और औदयिकभावों की स्वाधीनता का यथार्थ ज्ञान होता है।**

६. संक्रमण में थिबुक्क (स्तिबुक) संक्रमण नाम का एक संक्रमण है। इस कारण कर्म, उदयावली में प्रवेश करने के पहले ही समय में अन्य प्रकृति में बदल जाता है। **जैसे – क्षयोपशम दशा में सर्वघाति स्पर्धक देशघातिरूप में बदल जाते हैं।** इससे संक्रमण की सूक्ष्मता का बोध होता है।

७. कर्म का विशिष्ट रूप से संक्रमण हो, ऐसे विकल्प के कारण किसी भी कर्म का संक्रमण नहीं होता। जैसा संक्रमण होना होता है, वैसा ही होता है। इसतरह जीव कर्म का अकर्ता ही है; यह विषय समझ में आता है।

८. साधक जीव अथवा सम्यग्दृष्टि जब अपनी पुरुषार्थहीनता से मिथ्यात्वी हो जाता है तब उद्वेलन संक्रमण द्वारा सम्यक्प्रकृति कर्म, सम्यक्–मिथ्यात्व कर्म में और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म, मिथ्यात्व कर्म में परिवर्तित होता है। इससे पुरुषार्थ की विपरीतता का ज्ञान होता है।

९. परिणामों की विपरीतता से बांधी हुई देवगति, तिर्यंचगति में तथा नरकगति में भी बदल जाती है; अतः परिणामों को संभालना चाहिये।

१०. विकल्प, किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं है; इस अपेक्षा से विकल्प करना व्यर्थ हैं; ऐसा स्पष्ट निर्णय होता है।

संक्रमण करण के संबंध में **ब्र. जिनेन्द्रवर्णीजी का विचार –**

''संक्रमण की प्रक्रिया मनोविज्ञानानुसार मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा पाने का मानवजाति के लिए अतीव उपयोगी, सरलतम एवं महत्वपूर्ण उपाय है।[१]

संक्रमण का यह सिद्धान्त स्पष्टतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आशास्पद एवं पुरुषार्थ प्रेरक है। व्यक्ति पहले चाहे जितने दुष्कृत्यों (पापों) से घिरा हुआ हो; परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, सद्भावना और सद्वृत्ति से युक्त है तो वह कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा सकता है और उत्कृष्ट रसायन (परिणाम) आने पर कर्मों से सदा-सदा के लिए छुटकारा पा सकता है। **जैसे – मरीची का जीव, भगवान महावीर हुआ।**

किसी व्यक्ति ने पहले अच्छे कर्म बाँधे हों, किन्तु वर्तमान में वह दुष्प्रवृत्तियों को अपनाकर बुरे (पाप) कर्म बाँध रहा है तो पहले के पुण्य कर्म भी पाप कर्म में बदल जाएँगे; फिर उनका कोई भी अच्छा व सुखद फल नहीं मिल सकेगा। अतः संक्रमण करण द्वारा मनुष्य अपने जीवन का सदुपयोग या दुरुपयोग कर अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में या सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल सकता है। **प्रत्येक व्यक्ति अपना भाग्य-विधाता स्वयं ही है, भाग्य को बदलने में वह पूर्ण स्वाधीन है।**[२]''

(७) प्रश्न : उपशान्त करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : नये रूप से सत्तास्थित कर्मद्रव्य की जबतक उदीरणा नहीं होती तबतक की कर्म की अवस्था को **उपशान्त करण** कहते हैं। **उपशान्त करण आठों कर्मों में होता है।**

१. नवीनरूप से बंधनेवाले कर्म की उदय-उदीरणा तत्काल होने लगे तो सहजरूप से स्थापित उदय-उदीरणा की व्यवस्था बाधित हो जायेगी।

---

१. कर्म सिद्धान्त, पृष्ठ २१, २२ २. कर्मसिद्धान्त - पृष्ठ २८, २९

२. आठों कर्मों में कर्म की उपशान्त करणरूप पर्याय, कर्म के अपने उपादानगत शक्ति से होती है। इससे **कर्मरूप पुद्गल द्रव्य की स्वतंत्रता स्पष्ट समझ में आती है।**

(८) प्रश्न : निधत्ति-निकाचित करण को जानने से हमें क्या लाभ?

उत्तर : निधत्ति-निकाचित करणरूप अवस्था घाति-अघाति दोनों कर्मों में होती है।

मिथ्यात्व के साथ तीव्रतर संक्लेश परिणामों से पापमय निधत्तिरूप कर्मों का बंध होता है।

मिथ्यात्व के साथ तीव्रतम संक्लेश परिणामों से अतिपापरूप निकाचित कर्मों का बंध होता है।

१. यह स्वरूप जानकर पात्र जीव मिथ्यात्व तथा संक्लेश परिणामों से विरक्त हो सकते हैं। सती सीता के जीवन के दुःखमय प्रसंग तथा मुनि-अवस्था में विराजमान पंच पांडवों पर उपसर्ग - ये दोनों उदाहरण पापरूप निधत्ति-निकाचित के हो सकते हैं।

२. सम्यक्त्व सहित विशेष विशुद्धि के निमित्त से पुण्यरूप निधत्ति-निकाचित प्रकृतियों का बंध होता है। यह जानकर जीवों को सम्यक्त्व की महिमा आती है और जीवन स्वयमेव धर्म तथा पुण्यमय बनता है।

तीर्थंकर होनेवाले श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ, श्री अरनाथ को चक्रवर्ती एवं कामदेवत्व रूप निधत्ति-निकाचित पुण्यकर्म का बंध हुआ था। इस कारण इन तीनों महापुरुषों को तीनों पुण्यमय पदवियों का भोग अनिवार्य हो गया था।

३. अत्यन्त घोर पापरूप निधत्ति-निकाचितरूप कर्मों का नाश करने का सामर्थ्य भी जीव के धर्ममय परिणामों में (अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के प्रथम समय में) **हैं - यह जानकर सम्यक्चारित्र का विशेष बहुमान का भाव उत्पन्न होता है।**

दस करणों का प्रकरण सूक्ष्म होने से इन्हें जानने के कारण अपनी बुद्धि भी सूक्ष्म विषयों को जानने के लिए समर्थ होती है।

कर्मोदय का मर्म

प्रश्न - कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि देखो पुद्गल की शक्ति ! वह केवलज्ञान को भी रोकती है, क्योंकि केवलज्ञान को रोकने वाला केवलज्ञानावरण कर्म है न ?

उत्तर - यह तो पुद्गल में निमित्तरूप होने की उत्कृष्ट में उत्कृष्ट कितनी शक्ति है, यह बतलाया है। केवलज्ञानावरण कर्म का उदय आया, इसलिए केवलज्ञान रुका है ऐसा नहीं है।

उदय तो जड़ में है और उदय का अनुसरण करने की भी योग्यता जीव की स्वयं की है। इसलिए ज्ञान अपने कारण से हीनपने को प्राप्त हुआ है।

१. **ज्ञानावरण कर्म** का उदय भावकपने आता है, वह उसकी सत्ता में है और जीव में अपने कारण उसका अनुसरण करके ज्ञान की हीनदशा होनेरूप भाव्यदशा होती है यह भाव्य-भावक संकरदोष है।

जब, पर्याय को पूर्ण निर्मल करने के लिए पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय करने से निमित्त का आश्रय छूट जाता है तब वह भाव्यपना नहीं रहता और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

इसीप्रकार मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान में भी समझ लेना चाहिए। **इसप्रकार ज्ञानावरण कर्म जीता जाता है।**

२. **केवलदर्शनावरण** कर्म का उदय आने पर, उसका अनुसरण करे, तो दर्शन की हीनता होनेरूप भाव्य होता है। ज्ञानी व मुनि के भी पर्याय में दर्शन की हीनदशारूप भाव्य होने की योग्यता होती है, उस योग्यता के कारण भाव्य होता है, कर्म के कारण नहीं।

यदि जीव उदय की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव में आ जाये स्वभाव का सम्पूर्ण आश्रय प्राप्त कर ले **तो केवलदर्शनावरण कर्म जीत लिया जाता है।**

इसीप्रकार चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शनावरण कर्म जीतने के संबंध में भी समझना चाहिए।[१]

३. भाव्य आत्मा को भेदज्ञान के बल द्वारा स्वभाव की ओर झुकाने से उदय की ओर का लक्ष्य छूट जाता है तथा **अपने स्वभाव पर लक्ष्य जाता है। इसे ही मोह का जीतना कहते हैं।**[२]

४. **अन्तराय कर्म के निमित्त से** दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य ये पाँच पर्यायें हीन होती हैं। अन्तराय कर्म का उदय आता है, इसलिए ये पाँच पर्यायें हीन होती हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु जब वह हीनदशा होती है, तब कर्म के उदय को निमित्त कहते हैं।

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय कर्म का उदय तो जड़ में आता है और उसी समय हीनदशा होने की स्वयं उपादान में योग्यता है, इसकारण उदय का अनुसरण करने पर हीनदशारूप भाव्य होता है।

पर का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाल वीतरागमूर्ति अकषायस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय करे तो भाव्य-भावक की एकता का संकर दोष टल जाता है। इसप्रकार यह अन्तराय कर्म का जीतना है।[३]

५. **साता-असाता वेदनीय कर्म का उदय तो जड़ में होता है।** वस्तुतः यह तो संयोग की प्राप्ति में निमित्त है। उसके उदय से जीव की **पर्याय में जो किंचित् नुकसान होता है, वह अपने खुद के कारण है,** उदय के कारण नहीं है।

६. इसीप्रकार **आयुकर्म का** उदय है, इसलिए जीव को शरीर में रहना पड़ता है ऐसा नहीं है। **भावक कर्म का उदय जड़ कर्म में है और उसका अनुसरण करने से पर्याय में रहने की योग्यता स्वयं की है,** इस कारण जीव वहाँ रहा है। आयुकर्म तो निमित्तमात्र है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-५३ २. वही, पृष्ठ-४८
३. वही, पृष्ठ-५३-५४

७. नाम कर्म का उदय भी जड़ में होता है और उसके निमित्त से जीव की सूक्ष्म अरूपी निर्लेपदशा प्रगट नहीं होती। वह जीव की स्वयं की योग्यता से प्रगट नहीं होती है, क्योंकि उस काल में उदय का अनुसरण होता है।

८. गोत्रकर्म के संबंध में भी ऐसा ही समझ लेना।[१]

"प्रभु! कर्म का उदय तो जड़ की पर्याय है और जीव की पर्याय में जो विकारी भाव होता है, वह तो उसे छूता भी नहीं है; क्योंकि उनमें परस्पर अत्यन्ताभाव है। ...

प्रवचनसार की गाथा १८९ में ऐसा आता है कि शुद्धनय से आत्मा, विकार का कर्ता स्वतः है। पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में भी कहा है कि आत्मा की विकारी पर्याय का परिणमन अपने षट्कारकों से स्वतः है तथा अन्य कारकों से निरपेक्ष है। **अर्थात् जीव की पर्याय में जो विकार का परिणमन होता है, उसे कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं है।**

जैसा कर्म का उदय आता है, उसी के अनुपात में डिग्री टू डिग्री विकार करना पड़ता है – **यह तो दो द्रव्यों की एकता की बात है, जो कि सर्वथा मिथ्या है। प्रवचनसार गाथा ४५ की श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका में** तो ऐसा कहा है कि मोहकर्म का उदय होने पर भी जीव यदि स्वयं शुद्धपने परिणमे तो वह कर्म, उदय में आकर खिर जाता है।

'कर्म का उदय आता है, इस कारण जीव को विकार करना ही पड़ता है' – ऐसा बिलकुल नहीं है।

अपने वर्तमान पुरुषार्थ की जितनी योग्यता हो, उतना विकाररूप परिणमन होता है। कर्म का उदय होने पर भी विकार रूप न परिणमे – यह जीव की परिणति की स्वतंत्रता है।"[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-५४ २. वही, पृष्ठ-३७३

"आठों ही कर्मों का उदय तो जड़ में है और भावकर्म के अनुसरण से होने योग्य जो भाव्य है, वह आत्मा की स्वयं की दशा है, कर्म के कारण नहीं।

उदय को न गिनकर, उसकी परवाह न करके, उसका लक्ष्य छोड़कर, निष्कर्म निज ज्ञायकभाव का अनुसरण करने से ज्ञानी की ऐसी कर्म रूप भाव्य दशा ही नहीं होती; यही कर्म का जीतना कहलाता है।

घाति कर्म के कारण आत्मा में घात होता है, ऐसा नहीं है। घाति कर्म के उदयकाल में पर्याय में जितनी हीनदशारूप में परिणमने की अर्थात् भाव घातिरूप होने की स्वयं की योग्यता है, वह कर्म के कारण नहीं है। कर्म के कारण कर्म में पर्याय होती है, आत्मा में नहीं।

आहाहा! पर के कारण दूसरे में कुछ हो, ऐसा जैनधर्म में है ही नहीं। गुणों की पर्याय होती है, उसमें वह स्वयं ही कारण है, क्योंकि वह स्वयं ही कर्म का अनुसरण करता है।

स्वयं ही जितने अंश में निमित्त का आश्रय छोड़कर साक्षात् वीतराग स्वरूप स्वभाव का अनुसरण करके वीतराग पर्याय प्रगट होती है, उतने अंश में ही भाव्य-भावक संकरदोष टलता है।"[१]

"जब कर्म, निमित्त बनकर उदय में आता है, तब कर्म के कारण से जीव को विकार करना ही पड़ता है; ऐसा नहीं है। जीव जब स्वयं कर्म के उदय का अनुसरण करके परिणमता है, तो भाव्य विकारी होता है। तथा भेदज्ञान के बल से कर्म से दूर से ही पीछे हटकर, उदय का अनुसरण नहीं करे तो भाव्य विकारी नहीं होता।

उदय जड़कर्म की पर्याय है व विकारआत्मा की पर्याय है। जड़ की पर्याय व आत्मा की पर्याय के बीच अत्यंताभाव है। इसकारण न उदय के अनुसार विकार होता है और न करना ही पड़ता है।"[२] ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-५४-५५ २. वही, पृष्ठ-४८

सन्तों की भावना

सोना नहीं है और गहने बन गये, वस्तु नहीं है और अवस्था हो गई – ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है, वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है – प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि – पुद्गल जड़ कर्मरूप होते हैं, वे कर्म परिणाम, कर्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्ता कौन? – तो कहते हैं कि – उस पुद्गल कर्मरूप परिणमित होने वाले रजकण ही कर्ता है; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

(१) आत्मा कर्ता होकर जड़ कर्म का बन्ध करे – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

(२) जड़कर्म आत्मा को विकार कराये – ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं है।

(३) मन्द कषाय के परिणाम सम्यक्त्व का आधार हों – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

(४) शुभराग से क्षायिक सम्यक्त्व हो – ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है, यह सब तो विपरीत है/अन्याय है। भाई! तेरा यह अन्याय वस्तुस्वरूप को सहन नहीं होगा। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दुःख होगा – ऐसी करुणा सन्तों को आती है।

सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगत के सारे जीव सत्य स्वरूप को समझे और दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें – ऐसी उनकी भावना है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीजी
के समयसार कलश २११ के प्रवचन से।

करणानुयोग में दोष-कल्पना का निराकरण

प्रश्न :- कितने ही जीव कहते हैं - करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणादिक का व कर्मप्रकृतियों का कथन किया व त्रिलोकादिक का कथन किया; **सो उन्हें जान लिया कि 'यह इस प्रकार है', 'यह इस प्रकार है' इसमें अपना कार्य क्या सिद्ध हुआ? या तो भक्ति करें, या व्रत-दानादि करें या आत्मानुभवन करें - इससे अपना भला हो।**

उत्तर :- उनसे कहते हैं - परमेश्वर तो वीतराग हैं; भक्ति करने से प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं हैं। भक्ति करने से कषाय मन्द होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है। सो करणानुयोग के अभ्यास में उससे भी अधिक मन्द कषाय हो सकती है, इसलिये इसका फल अति उत्तम होता है। तथा व्रत-दानादिक तो कषाय घटाने के बाह्यनिमित्त के साधन हैं और करणानुयोग का अभ्यास करने पर वहाँ उपयोग लग जाये तब रागादिक दूर होते हैं सो यह अंतरंगनिमित्त का साधन है; इसलिये यह विशेष कार्यकारी है। व्रतादिक धारण करके अध्ययनादि करते हैं। तथा आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है; परन्तु सामान्य अनुभव में उपयोग टिकता नहीं है, और नहीं टिकता तब अन्य विकल्प होते हैं; वहाँ करणानुयोग का अभ्यास हो तो उस विचार में उपयोग को लगाता है।

यह विचार वर्तमान भी रागादिक घटाता है और **आगामी रागादिक घटाने का कारण है, इसलिये यहाँ उपयोग लगाना।**

जीव-कर्मादिक के नानाप्रकार से भेद जाने, उनमें रागादिक करने का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रागादिक बढ़ते नहीं हैं; **वीतराग होने का प्रयोजन जहाँ-तहाँ प्रगट होता है, इसलिये रागादि मिटाने का कारण है।**

प्रश्न :- यहाँ कोई कहे - कोई कथन तो ऐसा ही है, परन्तु द्वीप-समुद्रादिक के योजनादि का निरूपण किया उनमें क्या सिद्धि है?

उत्तर :- उनको जानने पर उनमें कुछ इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती, इसलिये पूर्वोक्त सिद्धि होती है। **मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२९०**

करणानुयोग का प्रयोजन

१. करणानुयोग में जीवों के व कर्मों के विशेष तथा त्रिलोकादिक की रचना निरूपित करके जीवों को धर्म में लगाया है।

२. जो जीव धर्म में उपयोग लगाना चाहते हैं वे जीवों के गुणस्थान-मार्गणा आदि विशेष तथा कर्मों के कारण-अवस्था-फल किस-किसके कैसे-कैसे पाये जाते हैं इत्यादि विशेष तथा त्रिलोक में नरक-स्वर्गादि के ठिकाने पहिचान कर पाप से विमुख होकर धर्म में लगते हैं।

३. ऐसे विचार (करणानुयोग) में उपयोग रम जाये तब पाप-प्रवृत्ति छूटकर स्वयमेव तत्काल धर्म उत्पन्न होता है; **उस अभ्यास से तत्त्वज्ञान की भी प्राप्ति शीघ्र होती है**

४. (करणानुयोग का) ऐसा सूक्ष्म यथार्थ कथन जिनमत में ही है, अन्यत्र नहीं है; इसप्रकार **महिमा जानकर जिनमत का श्रद्धानी होता है।**

५. जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर इस करणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह उसके विशेषणरूप भासित होता है।

६. इस (करणानुयोग के) अभ्यास से **तत्त्वज्ञान निर्मल होता है।** जैसे - कोई यह तो जानता था कि यह रत्न है, परन्तु उस रत्न के बहुत से विशेष जानने पर निर्मल रत्न का पारखी होता है; उसीप्रकार **तत्त्वों को जानता था कि यह जीवादिक हैं, परन्तु उन तत्त्वों के बहुत विशेष जाने तो निर्मल तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान निर्मल होने पर आप ही विशेष धर्मात्मा होता है।**

७. तथा अन्य ठिकाने उपयोग को लगाये तो रागादिक की वृद्धि होती है। और छद्मस्थ का उपयोग निरन्तर एकाग्र नहीं रहता; इसलिये ज्ञानी इस करणानुयोग के अभ्यास में उपयोग को लगाता है। उससे केवलज्ञान द्वारा देखे गये पदार्थों का जानपना इसके होता है; प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ही का भेद है, भासित होने में विरुद्धता नहीं है।

इसप्रकार यह करणानुयोग का प्रयोजना जानना।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२६९-२७०

करणानुयोग के व्याख्यान का विधान

"करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं किया है, **केवल-ज्ञानगम्य पदार्थों का निरूपण हैं।**

१. जिसप्रकार कितने ही जीव तो द्रव्यादिक का विचार करते हैं व व्रतादिक पालते हैं; परन्तु उनके अन्तरंग सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति नहीं है, **इसलिये उनको मिथ्यादृष्टि-अव्रती कहते हैं।**

२. कितने ही जीव द्रव्यादिक के व व्रतादिक के विचार रहित हैं, अन्य कार्यों में प्रवर्तते हैं, व निद्रादि द्वारा निर्विचार हो रहे हैं; परन्तु **उनके सम्यक्त्वादि शक्ति का सद्भाव है, इसलिये उनको सम्यक्त्वी व व्रती कहते हैं।**

३. किसी जीव के कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है और उसके अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है, तो उसे मन्दकषायी कहते हैं। तथा किसी जीव के कषायों की प्रवृत्ति तो थोड़ी है और उनके अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है, तो उसे तीव्रकषायी कहते हैं। जैसे - **व्यंतरादिक देव कषायों से नगर नाशादि कार्य करते हैं, तथापि उनके थोड़ी कषायशक्ति से पीत लेश्या कही है।** और एकेन्द्रियादिक जीव कषाय कार्य करते दिखायी नहीं देते, तथापि उनके **बहुत कषायशक्ति से कृष्णादि लेश्या कही है।**

४. सर्वार्थसिद्धि के देव कषायरूप थोड़े प्रवर्तते हैं, उनके **बहुत कषायशक्ति से असंयम कहा है।** और पंचम गुणस्थानी व्यापार अब्रह्मादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवर्तते हैं, उनके मन्दकषायशक्ति से देशसंयम कहा है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

५. किसी जीव के मन-वचन-काय की चेष्टा थोड़ी होती दिखाई दे, तथापि कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा बहुत योग कहा है। किसी के चेष्टा बहुत दिखाई दे, तथापि शक्ति की हीनता से अल्प योग कहा है। **जैसे केवली गमनादि क्रियारहित हुए, वहाँ भी उनके योग बहुत कहा है। द्वीन्द्रियादिक जीव गमनादिक करते हैं, तथापि उनके योग अल्प कहा है।** इसप्रकार अन्यत्र जानना।" **मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२७६**

शास्त्राभ्यास से लाभ

१. ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।
२. ज्ञान से ही कषायों का अभाव हो जाता है।
३. ज्ञानाभ्यास से माया, मिथ्यात्व, निदान इन तीन शल्यों का नाश होता है।
४. ज्ञान के अभ्यास से ही मन स्थिर होता है।
५. ज्ञान से ही अनेक प्रकार के दुःखदायक विकल्प नष्ट हो जाते हैं।
६. ज्ञानाभ्यास से ही धर्मध्यान व शुक्लध्यान में अचल होकर बैठा जाता है।
७. ज्ञानाभ्यास से ही जीव व्रत-संयम से चलायमान नहीं होते।
८. ज्ञान से ही जिनेन्द्र का शासन प्रवर्तता है। अशुभ कर्मों का नाश होता है।
९. ज्ञान से ही जिनधर्म की प्रभावना होती है।
१०. ज्ञान के अभ्यास से ही लोगों के हृदय में पूर्व का संचित कर रखा हुआ पापरूप कर्म का ऋण नष्ट हो जाता है।
११. अज्ञानी जिस कर्म को घोर तप करके कोटि पूर्व वर्षों में खिपाता है, उस कर्म को ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में ही खिपा देता है।
१२. ज्ञान के प्रभाव से ही जीव समस्त विषयों की वाञ्छा से रहित होकर संतोष धारण करते हैं।
१३. ज्ञानाभ्यास/शास्त्राभ्यास से ही उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होते हैं।
१४. ज्ञान से ही भक्ष्य-अभक्ष्य का, योग्य-अयोग्य का, त्यागने-ग्रहण करने योग्य का विचार होता है।
१५. ज्ञान से ही परमार्थ और व्यवहार दोनों व्यक्त होते हैं।
१६. ज्ञान के समान कोई धन नहीं है और ज्ञानदान समान कोई अन्य दान नहीं है।
१७. ज्ञान ही दुःखित जीव को सदा शरण अर्थात् आधार है।
१८. ज्ञान ही स्वदेश में एवं परदेश में सदा आदर कराने वाला परम धन है।
१९. ज्ञान धन को कोई चोर चुरा नहीं सकता, लूटने वाला लूट नहीं सकता, खोंसनेवाला खोंस नहीं सकता।
२०. ज्ञान किसी को देने से घटता नहीं है, जो ज्ञान-दान देता है; उसका ज्ञान निरन्तर बढ़ता ही जाता है।
२२. ज्ञान से ही मोक्ष प्रगट होता है।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार : अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना)